कृष्ण-गीता

(एक मौलिक धर्म-शास्त्र)

—दरबारीलाल सत्यभक्त

लेखक—

दरबारीलाल सत्यभक्त

संस्थापक-सत्यसमाज

प्रकाशक—

सत्याश्रम वर्धा (सी.पी)

मार्च १९३९ ई.

फाल्गुन १९९५ ई.

मूल्य बारह आणे

प्रकाशक—
सूरजचन्द सत्यप्रेमी
सत्याश्रम वर्धा [सी. पी.]

मुद्रक—
मैनेजर—
सत्येश्वर प्रिंटिंग
वर्धा (सी. पी.)

अध्याय-सूची
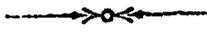
प्रस्तावना [पृष्ठ १०]

पहला अध्याय— (अर्जुन-मोह) पृ. १

मङ्गलगान, श्रीकृष्ण का दूतत्व, युद्धनिश्चय, अर्जुन का मोह, युद्ध बन्द करने की प्रार्थना।

दूसरा अध्याय— (निर्मोह) पृ. ८

श्रीकृष्ण का वक्तव्य—नातेदारी की व्यर्थता [गीत २] अन्याय का स्मरण [गीत ३] निर्मोह बनकर कर्म करने की प्रेरणा, अन्याय का प्रतिकार [गीत ४] स्वार्थी और अन्यायी की नातेदारी व्यर्थ [गीत ५] स्वार्थ के लिये नहीं किन्तु न्यायरक्षण के लिये समभावी बनकर कर्म करने की प्रेरणा।

तीसरा अध्याय— [अनासक्ति] पृ. १४

अर्जुन—युद्ध और समभाव एक साथ कैसे रहे ? **श्रीकृष्ण**—सारा संसार विरोधों का समन्वय है [गीत ६], समन्वय के दृष्टान्त [गीत ७], **अर्जुन**—निरर्थक युद्ध क्यो करूं ? [गीत ८] **श्रीकृष्ण**—संसार नाटक शाला है नाटक के पात्र की तरह काम कर [गीत ९], सच्चा खिलाड़ी बन (गीत १०), खिलाड़ी बालको से योग सीख (गीत ११)। **अर्जुन**—एक मनको विभक्त कैसे करूं ?

श्रीकृष्ण—पनिहारी की तरह मनको विभक्त कर (गीत १३) स्थितिप्रज्ञ बन और कर्मकर।

चौथा अध्याय— (स्थिति-प्रज्ञ) पृ. २०

स्थितिप्रज्ञ का स्वरूप—सत्य अहिंसा पुत्र, धर्म-जातिवर्ण लिंग-कुल-समभावी, निःपक्ष, विचारक, इन्द्रियवशी, मनोजयी, अहिंसक और न्यायरक्षक, शीलवान्, अपरिग्रही, मदहीन, नीतिमान्. निःकषाय, पुरुषार्थी, कलाप्रेमी, कर्मठ, निर्द्वन्द, यश अयश का जयी, सेवाके पारितोषक से लापर्वाह, उत्साही सच्चा साधु जो हो वही स्थितिप्रज्ञ है ऐसा स्थितिप्रज्ञ बनकर कर्मकर।

पाँचवाँ अध्याय—(सर्व-जाति-समभाव) पृष्ठ २७

अर्जुन के द्वारा श्रीकृष्ण की स्तुति और शंका-जाति-समभाव क्यो ? क्या विषमता आवश्यक नहीं है। **श्रीकृष्ण का उत्तर**— विषमता आवश्यक है पर समताहीन नहीं (गीत १४) मनुष्य जाति एक है उसमें जाति भेद न बना (गीत १५) जातियाँ कर्म-प्रधान हैं (गीत १६) जाति-भेद बाज़ार की चीज़ है, देशकाल देखकर सुविधानुसार रखना चाहिये, मद न करना चाहिये [गीत १७]। **अर्जुन**—जातिभेद प्राकृत न हो पर निःसार क्यो ? वह कभी अनुकूल और कभी प्रतिकूल क्यो ? **श्रीकृष्ण**—जातिभेद जब बेकारी दूर करता था और वैवाहिक आदि स्वतंत्रता में बाधक न था तब अच्छा था अब वह विकृत है। भेद रहे पर जाति—भेद बनकर नहीं, जाति—मोह की बुराइयाँ, तू जाति—कुल कुटुम्ब आदि का मोह छोड़ और कर्म कर।

छट्ठा अध्याय— (नर-नारी-समभाव)

अर्जुन--नर नारी मे वैषम्य है फिर सर्व-जाति-समभाव कैसे ? **श्रीकृष्ण**—दोनों में गुण दोष हैं ? वैषम्य परिस्थिति-जन्य है, पत्नी शब्द का अर्थ, शारीरिक विषमता पूरक है, दोनो के सम्मिलन में पूर्णता है, घर और बाहर के भेद ने विषमता बनाई, नर नारी समभाव होता तो द्रौपदी का अपमान न होता उस समभाव के लिये कर्म कर ।

सातवाँ अध्याय— (अहिंसा) पृष्ठ ४५

अर्जुन--मैं सब जगह समभाव रखने को तैयार हूं पर पुण्य पाप समभाव कैसे रक्खूं ? तुम अहिंसा और हिंसा में समभाव रखने को क्यों कहते हो ? **श्रीकृष्ण**-बाहिरी हिंसा को ही हिसा न समझ, कभी हिंसा अहिंसा हो जाती है कभी अहिंसा हिंसा । हिंसा के पाचभेद-स्वाभाविकी, आत्मरक्षिणी, पररक्षिणी, आरम्भजा, संकल्पजा, '**इन में पांचवां भेद त्याज्य है ।**' अहिंसा के छः भेद-बंधुत्वजा, अशक्तिका, निरपेक्षिणी, कापटिकी, स्वार्थजा, मोहजा । इनमे से बंधुत्वजा अहिंसा ही वास्तविक अहिंसा है । तेरी अहिसा मोहजा है उसका धर्म से सम्बन्ध नहीं और तेरी हिंसा आत्मरक्षिणी है । हिंसा अहिंसा निरपेक्ष नही सापेक्ष है । तू हिसा अहिंसा का निर्णय विश्व-कल्यांण की दृष्टि से करके कर्तव्य कर ।

आठवाँ अध्याय— [सत्य] पृष्ठ ५४

अर्जुन—यदि हिंसा अहिसा सापेक्ष हैं तो कुछ भी निश्चय नहीं हो सकता । सत्य तो निश्चित और एकसा होता है । सत्य के अभाव में धर्म नहीं रह सकता । **श्रीकृष्ण**--तू तथ्य और सत्य का भेद

समझ (गीत १८) सत्य कल्याण की अपेक्षा रखता है। तथ्य भी सत्य असत्य होता है अतथ्य भी सत्य असत्य होता है। तथ्य के चार भेद--विश्वास-वर्धक, शोधक, पापोत्तेजक, निंदक । अतथ्य के छः भेद--वंचक, निंदक, पुण्योत्तेजक, स्वरक्षक, पररक्षक, विनोदी। जहा न्यायरक्षण है वहां सत्य है जहा सत्य है वहां अहिंसा है इन्हे समझ और कर्तव्य मार्ग में आगे बढ ।

नवमाँ अध्याय— (यमत्रिक) पृष्ठ ६२

अर्जुन—सारा जगत चचल है (गीत १९) पर अगर सत्य अहिंसा रूप धर्म-चचल हो तो अपरिग्रह शील आदि सब चंचल होजॉयँगे । जगत मे पाप की गर्जना होगी इसलिये पुण्य पाप के निश्चित भेद बताओ ।

श्रीकृष्ण का वक्तव्य--सत्य और अहिंसा मूल में अचंचल है, उनके विविध रूप चचल है। ब्रह्म माया का दृष्टांत [गीत न. २०] सत्य अहिंसा अचचल हैं इसीलिये सभी अचचल है, अचौर्य शील और अपरिग्रह का निश्चित और सापेक्ष रूप। इसके लिये अंतर्दृष्टि की प्रेरणा। उससे कर्तव्य-निर्णय कर और आगे बढ़ ।

दसवाँ अध्याय (कर्तव्य-निकष)

अर्जुन के द्वारा श्रीकृष्ण की स्तुति [गीत २१] कर्तव्य-निर्णय की कसौटी का प्रश्न। **श्रीकृष्ण**--जगत सुख चाहता है, वही कसौटी है। **अर्जुन**--यदि सुख-वर्धन कसौटी है तो सुख के लिये किये जानेवाले सब पाप धर्म होजायेंगे । **श्रीकृष्ण**--पाप से अणु भर सुख मिलता है और दुःख पर्वत के समान । सुखवर्द्धन मे अपना

। नहीं सब का विचार कर । **अर्जुन**--जब सुख ध्येय है तो पर
ी चिन्ता क्यों ? **श्रीकृष्ण**--जगत के कल्याण में ही व्यक्ति का
ल्याण है [गीत २२] जितना ले उससे अधिक देने का प्रयत्न
ा । **अर्जुन**--लेने देने के झगड़े में क्यों पड़ूं ? **श्रीकृष्ण**--हर एक
समाज का ऋणी है वह ऋण चुकाना ही चाहिये । **अर्जुन**-
जससे ले उसी को दें सब को क्यों ? **श्रीकृष्ण**-सभी ऐसा सोचलें
ो तुझे पहले कौन देगा ? व्यक्ति की चिन्ता न कर, समाज पर
ज़र रख । सब से ले, सब को दे, इस प्रकार सुखी बन । **अर्जुन**--
को सुखी करने से दूसरे को दुःख होता है क्या किया जाय ?
श्रीकृष्ण-जिससे विश्व अधिक सुखी हो वही कर्तव्य समझ और
आत्मौपम्य विचार से कर्तव्य का निर्णय कर । हर तरह बहुजन को
सुखी बनाने की कोशिश कर । **अर्जुन**-बहुजन तो पापी हैं, रावण
और दुर्योधन का ही दल बहुत है । क्या पाप की जय होने दूँ ?
श्रीकृष्ण-वर्तमान ही मत देख, सार्वकालिक और सार्वदेशिक दृष्टि से
विचार कर, उसमें बहुजन न्याय के ही पक्ष मे है । इस तरह अपना
कर्तव्य निर्णय कर, संमोह छोड़, नपुंसक न बन और कर्तव्य कर ।

ग्यारहवाँ अध्याय [पुरुषार्थ] पृ. ८०

अर्जुन--सुख की परिभाषा बताओ । सुख भीतर की वस्तु है
या बाहर की ? क्या यही पुरुषार्थ है ? अथवा पुरुषार्थ क्या है ?
श्रीकृष्ण--सुख दुःख के लक्षण । काम और मोक्ष दो मूल
पुरुषार्थ । अर्थ और धर्म उनके साधन । काम और मोक्ष का स्वरूप ।
दोनो की आवश्यकता । **अर्जुन**--मोक्ष का यहाँ क्या उपयोग ? वह
तो मरने के बाद की चीज़ है । **श्रीकृष्ण**-मोक्ष यहीं है [गीत २३]

तू चारो पुरुषार्थ प्राप्त कर । **अर्जुन**-एक ही तो दुर्लभ है चार चार की क्या बात ? **श्रीकृष्ण**-चारों तेरे हाथ में है (गीत २४) **अर्जुन**-जब मोक्ष यहीं है तो और पुरुषार्थों का क्या उपयोग ? **श्रीकृष्ण**-तीनों के बिना मोक्ष नहीं रह सकता । चारो का अलग २ वर्णन । काम के सात्विक, राजस तामस आदि भेद । काम और मोक्ष दोनों का समन्वय । यहां चारों पुरुषार्थ संकटापन्न है इसलिये उठ । अधर्म की माया को दूर कर । यही सब धर्मों का मर्म है ।

बारहवाँ अध्याय [सर्व-धर्म-समभाव] पृ. ९१

अर्जुन--सब धर्मों का अगर एक ही सार है तो उनमे अहिंसा हिंसा, प्रवृत्ति निवृत्ति, मूर्ति अमूर्ति, वर्ण अवर्ण, त्याग, भक्ति आदि का भेद क्यो ? **श्रीकृष्ण**-मूल में सब एक हैं [गीत २५] हिंसा अहिंसा समन्वय, पशु यज्ञ, इन्द्रिय यज्ञ, कर्मयज्ञ, धनयज्ञ, श्रमयज्ञ, मानयज्ञ, तृष्णायज्ञ, क्रोधयज्ञ, विद्यायज्ञ, औषधयज्ञ, प्राणयज्ञ, कीर्त्तियज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, आदि सात्विकयज्ञ, राजसयज्ञ, तामसयज्ञ । प्रवृत्ति निवृत्ति समन्वय, मूर्ति अमूर्ति समन्वय, वर्ण-व्यवस्था; आश्रम व्यवस्था, भक्ति, त्याग, सब धर्म निर्विरोध हैं और वे कर्मयोग का संदेश देते हैं इसलिये तू न्याय रक्षण के लिये कर्म कर ।

तेरहवाँ अध्याय [धर्म शास्त्र] पृ. १०४

अर्जुन-के द्वारा कृष्ण-स्तुति [गीत न. २६] उसका प्रश्न-धर्म जब एक है तो उनके दर्शन भिन्न क्यों ? **श्रीकृष्ण का वक्तव्य**-धर्म शास्त्र का स्थान [गीत न. २७] दर्शनादि शास्त्रो की जुदाई । **अर्जुन**-मुक्ति. ईश्वर, परलोक आदि धर्म में न रहें तो धर्म क्या रहे ? **श्रीकृष्ण**-विश्वहित ही धर्म है । मुक्ति की मान्यता पर विचार ।

ईश्वर मान्यता पर विचार । निरीश्वरवादी जगत् [गीत २८] अकर्मवादी जगत् [गीत २९] वास्तविक ईश्वरवाद और कर्मवाद । परलोक-विचार । द्वैताद्वैताविचार । वास्तविक द्वैताद्वैत । किसी भी दर्शन में धर्म के प्राण डालकर विश्व-हित के लिये कर्तव्य कर । न्याय को विजयी बना, अन्याय को पराजित कर ।

चौदहवाँ अध्याय (विराट् दर्शन) पृ. ११९

अर्जुन--विविध धर्म-ग्रन्थो का निर्णय कैसे करूँ ? श्रद्धा और तर्क की असफलता । **श्रीकृष्ण**--श्रद्धा और तर्क दोनो का मेल कर । श्रद्धा के सत्व रजस् तम भेद । तर्क का उपयोग । **अर्जुन**-तर्क कल्पना रूप है, उसका विचार व्यर्थ है । **श्रीकृष्ण**-तर्क अनुभवो का निचोड़ है, उसमे कल्पना का मिश्रण न कर । देव, शास्त्र, गुरु सब की परीक्षा कर । **अर्जुन**--देव, शास्त्र, गुरु बहुत है, मै कैसे पहचानूँ ? **श्रीकृष्ण**-देव वर्णन, गुणदेव, व्यक्तिदेव (गीत ३०) शास्त्र, विधि-शास्त्र, दृष्टांत शास्त्र । गुरु, गुरु की असाम्प्रदायिकता, गुरु-कुगुरु का अंतर । तू विचारक बन और दुनिया को पढ़, (गीत ३१) तुझे भगवान सत्य का विराट् दर्शन होगा । **अर्जुन** का विराट् दर्शन, सत्येश्वर का विराट् रूप, अर्जुन की निर्मोहता और कर्तव्य तत्परता ।

[समाप्त]

प्रस्तावना

हजारो वर्ष बीत गये किन्तु योगेश्वर श्री कृष्ण का सन्देश जो महाभारत मे गीता के नाम से विख्यात है वह आज भी मानव-समाज के लिये पथ-प्रदर्शक है।

कृष्णार्जुन-सवादरूप वह सदेश घर घर मे काफ़ी आदर पूर्वक पढ़ा जाता है क्योकि उसमे धर्म की व्यापकता है, वैदिक धर्म की सकुचितता गीता में नही दिखाई देती। उसमे तो हिन्दू-धर्म की उदारता है। वैदिक--धर्म मे निरर्थक क्रिया--काड हैं, वर्ण की कट्टरता है, वह एक सकुचित सम्प्रदाय है पर वेद नाम का आधार रहने पर भी हिन्दू-धर्म के नाम से जो चीज़ तैयार हुई उसमे असाधारण विशालता है। उसमे नाना देव, नाना रीति रिवाज, नाना विचार आदि का अद्भुत समन्वय हुआ है और उसका बीज हमे श्रीमद्भगवद्गीता मे मिलता है।

हिन्दू-धर्म को जो उदार रूप प्राप्त हुआ है उसमे गीता का ही सब से बडा हाथ है। निःसन्देह हिन्दू नाम पीछे का है पर चीज़

पहिले की है । वैदिक-धर्म मे जो विचारपूर्ण क्रान्ति शताब्दियों तक होती रही उसी का स्थिररूप हिन्दू-धर्म है । हिन्दू-धर्म ने श्रमण और ब्राह्मण, आर्य और अनार्य संस्कृतियों का मिश्रण करके धर्म का और समाज का एक सुन्दर रूप जगत के सामने रक्खा था। गीता में उसी का बीज है । '**वेद वादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः**" कह कर वैदिक-धर्म की संकुचितता का दूसरे अध्याय मे जोरदार विरोध किया गया है ।

गीता की लोकप्रियता देख कर हरएक सम्प्रदाय के आचार्य ने इस महान ग्रंथ का मन-सम्मत अर्थ निकाला है किन्तु यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि गीता-ज्ञान का ध्येय कर्मयोग का प्रतिपादन ही है, अगर श्री कृष्ण को कोई अन्य योग्य इष्ट था तो युद्ध से विरक्त मोह--युक्त अर्जुन उसे सुन कर घोर संग्राम के लिये तय्यार न हो जाता "**क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप**' के उत्तर में '**करिष्ये वचनं तव**' की प्रतिज्ञा कर्मयोग के सिवाय और क्या हो सकती है ?

श्रीकृष्ण

श्रीकृष्ण ऐतिहासिक हो या न हो परन्तु भारतीय साहित्य में, धर्म मे और समाज मे वे इस तरह बस गये है कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। संस्थापक सत्य-समाज ने उन्हें ऐतिहासिक महात्मा माना है । उनका जीवन ऐसा सर्वांग पूर्ण था कि विद्वानो ने 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं' कहकर उन्हे भगवान का पूर्णावतार कहा है । वे ऐसे परमयोगी, वीर, सदाचारी, जनसेवक, सुधारक विचारक,

कलाप्रेमी, विनयी, त्यागी, चतुर और समय-द्रष्टा थे कि उनको पूर्णावतार कहने मे कुछ भी अनौचित्य नहीं है।

हिन्दू-धर्म के सस्थापक रूप में अगर श्रीकृष्ण को माना जाय तो भी कोई अत्युक्ति न होगी। नि:सन्देह वे इतने पुराने हैं कि उनके उपदेशो का विशेपरूप पाना कठिन है पर कुछ सामान्य बाते अवश्य मिल सकतीं हैं, जैसे कर्मयोग, दर्शन और धर्मों का समन्वय, सुधारकता आदि। इन्हीं सामान्य बातो के आधार पर उनके नाना विशेपरूप चित्रित किये जा सकते हैं।

गीता का नूतन रूप

इस जगह यह सब लिखने का प्रयोजन यह है कि सत्य-समाज के संस्थापक ने प्रस्तुत पुस्तक मे उस कर्म-योग-सदेश को ऐसे नूतन रूप मे प्रतिपादित किया है कि जो उस समय के लिये पूर्ण सगत होने के साथ साथ वर्तमान सामाजिक, धार्मिक और नैतिक समस्याओ के लिये भी सुन्दर हल बन गया है।

पॉचवे अध्यायमे जाति-मोहका विरोध करतेहुये कहते हैं:—

"जब था जाति—भेद जीवन में समता देने वाला।
बेकारी की जटिल समस्याए हर लेने वाला॥
जब इसके द्वारा धधे की चिन्ता उड जाती थी।
तभी श्रुति स्मृति जाति-भेद को हितकर बतलाती थी॥
इससे अच्छी तरह अर्थ का होता था बटवारा।
देता था सतोष सभी को बनकर शाति-सहारा॥
सुविधा की थी बात वर्ण का था न मनुज अभिमानी।
विप्र शूद्र सब एक घाट पीते थे मिल कर पानी॥

जातिया हमने बनाई कर्म करने के लिये।
हैं नहीं ये दूसरों का मान हरने के लिये॥

ईश की कृतिया नहीं ये प्रकृति की रचना नहीं।
कल्पना बाज़ार की है पेट भरने के लिये ॥
जिस तरह सुविधा हमें हो, उस तरह रचना करें।
जाति जीने के लिये है, है न मरने के लिये ॥
विप्रता की है जरूरत शूद्रता की भी यहां।
प्रेम से जग मे मिलेंगे हम विचरने के लिये ॥
विप्रता का मद नहीं हो शूद्रता का दैन्य भी।
हो परस्पर प्रेम यह ससार तरने के लिये ॥

+ + +

भेद रहे वैषम्य रहे वह, जो सहयोग बढाये।
पर यह मानव--जाति न चिथडे चिथडे होने पाये॥

ठीक इसी प्रकार समन्वय के कुठार से साम्प्रदायिक मोह पर आघात करते हुये बारहवे अध्याय मे श्रीकृष्ण कहते है :-

अर्जुन, सब की एक कहानी।
पंथ जुदा है घाट, जुदे हैं, पर है सब मे पानी ॥
अर्जुन सब की एक कहानी।
जब तक मर्म न समझा तब तक होती खींचातानी।
पर्दा हटा, हटा सब विभ्रम दूर हुई नादानी ॥
वर्ण--अवर्ण अहिसा--हिंसा मूर्ति न मानी मानी।
क्या प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति क्या है सब धर्म निशानी ॥
यह विरोध कल्पना शब्द की होती है मनमानी।
लड़ते और झगडते मूरख करें समन्वय ज्ञानी ॥
अर्जुन सब की एक कहानी ॥

श्रीमद्भगवद्गीता के "**द्रव्य यज्ञास्तपो यज्ञा योग यज्ञा स्तथापरे, स्वाध्याय ज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशित--व्रताः**" [४-२८] की तरह प्रस्तुत गीता के बारहवे अध्याय मे विविध यज्ञो का वर्णन करते हुए अंत मे कहा गया है:--

तब कृष्ण कहते हैं:—

मरने पर पुरुषार्थ भला क्या ?
मुर्दे की शृंगार कला क्या ?
मोक्ष परम पुरुषार्थ यहीं का कर्मयोग-आधार।
यहीं है मोक्ष और संसार॥

जब अर्जुन अपना दैन्य प्रकट करके कहता है कि—

छोटी सी यह बुद्धि है, है सब शास्त्र अथाह।
अगर थाह लेने चलूं हो जाऊँ गुमराह॥

तब श्रीकृष्ण अभय-दान देते हुए कहते हैं—

बुद्धि अगर छोटी रहे तो भी हो न हताश।
छोटी सी ही आँख मे भर जाता आकाश॥

फिर कहते हैं—

पाक-शास्त्र जाने नहीं करें स्वाद-प्रत्यक्ष।
निपट अपाचक लोग भी स्वाद परीक्षण दक्ष॥

विषय की गहनता को देखते हुए इतना सुबोध विवेचन करने मे श्री सत्यभक्तजी को आश्चर्यजनक सफलता मिली है। जगह जगह उदाहरण और दृष्टान्त इतने 'फिट' दिये गये हैं कि विषय एकदम हृदयंगम हो जाता है जैसे.——

कठिन कर्तव्य है अर्जुन कठिन सम्बन्ध पाना है।
विरोधों से भरी दुनिया समन्वय कर दिखाना है।
अनल की ज्योति है बिजली चमकती जो कि बादल में।
बनाकर नीर के घर में अनल के आशियाना है॥

हो वह अहिंसा रूप हिंसा-रूप या सत्कर्म है ॥
निज देश-रक्षण के लिये यदि युद्ध भी करने पड़ें।
यदि आक्रमणकारी दलो के प्राण भी हरने पड़ें ॥
अधिकार रक्षण के लिये यदि शत्रुवध अनिवार्य है ।
तो है न हिंसा प्राणि-वध मे प्राणिवध भी कार्य है ॥

इस प्रकार स्पष्ट शब्दो मे हिंसा अहिंसा का मर्म समझाते हुए अन्त मे कहते है:—

सचमुच अहिंसा ही कसौटी है सकल सत्कर्म की।
रहती अहिंसा है जहाँ सत्ता वहीं है धर्म की ॥
पर वाहिरी हिंसा अहिंसा से न निर्णय कर कभी।
होती अहिंसा बाह्य हिंसा रूप भी मत डर कभी ॥
कल्याण जिस मे विश्व का हो और हो निःस्वार्थता।
फिर हो अहिंसा या कि हिंसा पाप का न वहाँ पता ॥
है मोहजा तेरी अहिंसा मूल मे न विवेक है।
वह है नही सच्ची अहिंसा, मोह का अतिरेक है ॥

इसी प्रकार **'होती जहाँ अहिंसा, सच भी वहीं समाया'** कहते हुए सत्यके भी नाना भेद-प्रभेद बतलाये गये हैं जिसका सार है कि जो विश्व--कल्याणकारी है वही सत्य है चाहे वह तथ्य (जैसा का तैसा) हो या न हो ।

ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अचौर्य आदि को सत्य अहिंसा मे ही अन्तर्भाव करते हुए सुन्दर सूक्तियाँ लिखी गई हैं जो हृदय पर सीधा प्रभाव डालतीं है ।

बहुत तपस्याएँ हुईं कस कर बँधा लँगोट।
सह न सका पर एक भी मकरध्वज की चोट ॥
देह दिगंबर हो गई मन पर मन-भर सूत।
बुनकर बन बैठा वहाँ मोह पाप का दूत ॥
तन का तो आसन जमा मन के कटे न पाँख।
बगुला तो ध्यानी बना पर मछली पर आँख ॥
जबतक मन वश में नहीं तबतक कैसा त्याग।
भीतर ही भीतर जले बिकट अवाकी आग ॥
चोरी करता चोर पर चोरी सहे न चोर।
चोरो के घर चोर हों चोर मचावे शोर ॥
वहाँ विषमता है जहाँ प्रति-क्रिया है पार्थ।
योगी के समरूप है चारों ही पुरुषार्थ ॥

कहाँ तक उद्धरण दिये जाँयँ। नाना शंकाओ का सरल से सरल भाषा मे शृखला-बद्ध समाधान दिया गया है जो सभी श्रेणी के पाठको को अपूर्व विचार-गति प्रदान करता है।

अन्तिम गीतमें निष्कर्ष-रूप मे कैसा यथार्थ उपदेश दिया गया है:—

भाई पढले यह संसार।
खुला हुआ है महाशास्त्र यह जिस मे वेद अपार ॥
भाई, पढ ले यह संसार।
अनुभव और तर्क दो आँखे अजन सारे वेद।
देख सके सो देखे भाई, काला और सफ़ेद ॥
अद्भुत पुण्य-पाप भण्डार।
भाई पढ़ले यह ससार ॥

उक्त कतिपय उद्धरणों से आपको मालूम हो गया होगा कि प्रस्तुत गीता एक मौलिक धर्म-शास्त्र बन गया है।

कृष्ण-गीता और भगवद्गीता

इन दोनो गीताओं मे दो बातो की समानता है—

१—दोनो मे कृष्णार्जुन के संवादरूपमे विवेचन है।

२—दोनो मे कर्मयोग को मुख्यता देकर धार्मिक और सामाजिक सुधार तथा समन्वयकारी क्रांति का समर्थन है।

परन्तु दोनों में भेद भी हैं। प्रस्तुत ग्रंथ के साढ़े नवसौ पद्यो मे साढ़े नव पद्य भी ऐसे नहीं है जिन मे भगवद्गीता के किसी पद्य के अनुवाद की छाया हो। पूर्णानुवाद तो एक भी न मिलेगा। वर्णन-शैली और विषय का भी बहुत अन्तर है। इस प्रकार पर्याप्त अन्तर है पर निम्न लिखित अन्तर विशेष ध्यान देने योग्य है।

१—भगवद्गीता में १८ अध्याय है, कृष्णगीता मे १४ अध्याय हैं।

२—भगवद्गीता मे गीत नहीं है। प्राचीन संस्कृत साहित्य मे साधारण पद्य के अतिरिक्त गीत लिखने का रिवाज़ ही नही था परन्तु आज तो गीतों का विशेष स्थान है, गीता नाम की पुस्तक में गीत न हों यह ज़रा अटपटा सा मालूम होता था। इसलिये इस ग्रंथ मे इकत्तीस गीत रक्खे गये हैं।

३—भगवद्गीता मे दर्शन-शास्त्र का काफ़ी विवेचन है और इस ढंग से है मानों उन दर्शनो का परिचय देने के लिये किया गया है। पर धर्म—शास्त्र से दर्शन—शास्त्र अलग है इसलिये प्रस्तुत गीता मे दर्शनों का परिचय नहीं दिया गया है। धर्म और

दर्शन भिन्न क्यो हैं इसी वात को लेकर दर्शन--शास्त्र का उल्लेख हुआ है और दर्शन--शास्त्र के ईश, अनीश, आत्म, अनात्म वादो का धार्मिक उपयोग वताया गया है।

४ गीता युद्ध के समय जो वातचीत हुई थी उसकी रिपोर्ट है। वह बातचीत ग्रन्थ वनगई यह दूसरी बात है पर उसमे विपयवार अध्याय न होना चाहिये। युद्ध के उस अल्प समय मे श्रीकृष्ण का काम जल्दी से जल्दी सत्यमार्ग दिखला कर अर्जुन को कर्तव्य-पथ पर खड़ा करना था। 'अव मैं इतना कह चुका इतना और सुनले' इस प्रकार सुना सुना कर अध्याय तैयार करने का वह अवसर नहीं था। इसलिये प्रस्तुत-गीता में हरएक अध्याय का अन्त वार्तालाप के उपसहार रूप में किया गया है। सिर्फ पहिला अध्याय अर्जुन-विषाद पर पूरा हुआ है। बाकी हरएक अध्याय मे श्रीकृष्ण चर्चा पूरी कर देते हैं पर अर्जुन कोई न कोई शका उपस्थित कर वैठते है इसलिये श्रीकृष्ण को चर्चा करना पडती है और अध्याय वन जाता है। इससे कुछ स्वाभाविकता भी आ गई है।

५--प्रस्तुत गीता मे ऐसे विपय भी रक्खे गये हैं जो भगवद्-गीता मे नहीं हैं। जैसे नर-नारी-समभाव वहाँ संकेत रूप मे है तो इस गीता मे उसके लिये स्वतन्त्र अध्याय लिखा गया है जो आज कल के लिये जरूरी होकर के भी उस अवसर के बिलकुल अनुकूल बना दिया गया है। जरा नमूना देखियेः---

नारी को यदि पुरुष परिग्रह माना तुमने,
उसको दासी तुल्य भूलकर जाना तुमने।
तो समझो अंधेर मचाना ठाना तुमने,

सत् शिव सुन्दर का न रूप पहचाना तुमने।
तुम लोगो मे अगर समझदारी यह आती,
नरनारी मे यदि समानता आने पाती।
तो अनर्थ की परम्परा कैसे दिखलाती,
क्यो देवी द्रौपदी दाव पर रक्खी जाती ?

× × × ×

नरनारी वैषम्य वृक्ष है फलने आया।
उसने कैसा आज महाभारत मचवाया ॥

इस तरह कृष्ण-गीता मे बहुत से अनावश्यक विषय हटा कर आवश्यक जोड़ दिये गये हैं। अधिकांश विषयो का वर्णन इस समय की उपयोगिता के अनुसार किया गया है साथ ही उस अवसर के लिये भी वे अनुपयुक्त नही होने पाये है। भगवान सत्य के विराट् दर्शन हो जाने के बाद किसी को कोई शंका न रहना चाहिये इसीलिये इस गीता मे विराट् दर्शन अंत मे कराया गया है।

यह कहा जा सकता है कि एक ऐतिहासिक वार्तालाप को किसी को मनमाने ढंगसे बदलने का क्या अधिकार है ? पर इसका उत्तर यही है कि श्रीकृष्ण का वह सन्देश सिर्फ़ इतिहास नही है न अपने ऐतिहासिक रूप मे वह सुरक्षित है, वह धर्मशास्त्र है, कर्तव्य पथका ऐसा निर्देश है जिस मे काफ़ी स्थायी तत्त्व है। उस सन्देश के प्राण स्वरूप कर्मयोग को देशकाल के अनुसार भाषा, भाव, युक्ति शैली आदि से सजाना अनुचित नही है। महाभारतकार ने अपने समय के लिये यही किया और यहाँ भी आज के युग के अनुसार यही किया गया है जो श्रेयस्कर है।

सत्य, प्रेम और सेवा के पक्षपाती सत्यसमाजियो के लिये तो यह धर्म-ग्रंथ के समान है ही पर उदार विचार के हरएक हिन्दू, मुसलमान, जैन, बौद्ध, ईसाई, पारसी, सिक्ख आदि के लिये भी यह कर्तव्य-शास्त्र का काम दे सकती है।

कृष्णगीता क़रीब सवा दो वर्ष तक सत्यसन्देश मे (सन् १९३७-३८-३९) प्रकाशित होती रही । उसीके अनुसार हर मास थोड़ी थोडी बनती रही। अब उसे पुस्तकाकार प्रकाशित करते हुए हर्ष होता है।

बहुत सावधान रहने पर भी 'प्रेस-पिशाचो' के शिकार से नही बचा जा सका इसके लिये शुद्धि-पत्र साथ में दे दिया गया है।

आशा है हमारे गुण-ग्राही पाठक इस प्रयत्न की कद्र करेंगे।

वसंतोत्सव १९९५
सत्याश्रम वर्धा, [सी. पी.]

सूरजचन्द सत्यप्रेमी [डॉगी]
बड़ी सादड़ी (मेवाड़)

* शुद्धयशुद्धि *

पृ.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	२२	पाण्डवा	पाण्डवों
१५	१३	सुहाता नील	सुहातीं नील
१८	१०	ताड़	तोड़
२०	९	प्रभ	प्रभु
२१	१७	नतन	नूतन
२२	१०	को जलने न दे	जलजाने न दे
,,	,,	को फलने न दे	फलजाने न दे
२८	६	ह	है
३२	१०	शद्र	शूद्र
४३	१८	का	की
४५	१०	बनूना	बनूगा
४७	६	हिंसा बताया	होती अहिंसा
५२	२१	मनज	मनुज
,,	२२	मर्त्ति	मूर्त्ति
५४	९	हा	हो
,,	१५	हाता	होता
,,	१४	अभा	आभा
५६	१	रह	रहे
५७	१९	द्यत	द्यूत
,,	२०	षडा	घड़ा
५८	९	सयमता	सयतता
६५	१०	अचार्य	आचार्य
८८	१९	प्रम	प्रेम
९८	८	वण	वर्ण
१००	२	सब्र अनागर	सब ही अनगार
,,	५	हो	हों
१०२	२०	गही	गृही
११६	२१	सखको	सुखको
१२४	,,	घटपट	घटघट
१२५	५–११	भाई	माई
१२८	1४	असम्मव	असम्भव
१३०	I६	ससार	ससार

समर्पण

योगेश्वर श्रीकृष्ण के चरणोंमें–

योगेश्वर !

साधारण दुनियाने तुम्हे बहुत कम समझा। इसमें तुम्हारा अपराध तो कैसे कहूँ ? पर दुनिया का भी वहुत कम अपराध है। अपराध है तुम्हारी विचित्रता का। तुम योगी हो या भोगी ? राजा हो या रंक ? ब्राम्हण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो या शूद्र ? कुछ समझ मे नहीं आता, आखिर तुम, पूर्णावतार हो। सब रस और सब कर्म तुम्हारे जीवन मे है जो तुम्हारे अनुचरो के मनमे प्रतिबिम्बित होते हैं। जब जब निराशाओ ने मुझे घेरा है, कार्य के वोझने दबाया है तब तब तुम्हारी मूर्त्ति उसी तरह मेरे सामने खडी हुई है जैसे अर्जुन के सामने हो गई थी और उससे मैंने वहुत कुछ पाया है। अर्जुन को दिव्योपदेश देकर तुमने दुनिया को जो अमर साहित्य दिया था वही अमर साहित्य न जाने कैसे तुमने मुझे दिया और मैने वह पद्यों मे गूँथ डाला। ज़रा देखो तो कैसा गुँथा है ?

तुम्हारा अनुचर वन्धु

—दरबारीलाल सत्यभक्त

योगेश्वर श्रीकृष्ण

सत्याश्रम वर्धा के धर्मालय में विराजमान मूर्ति ।
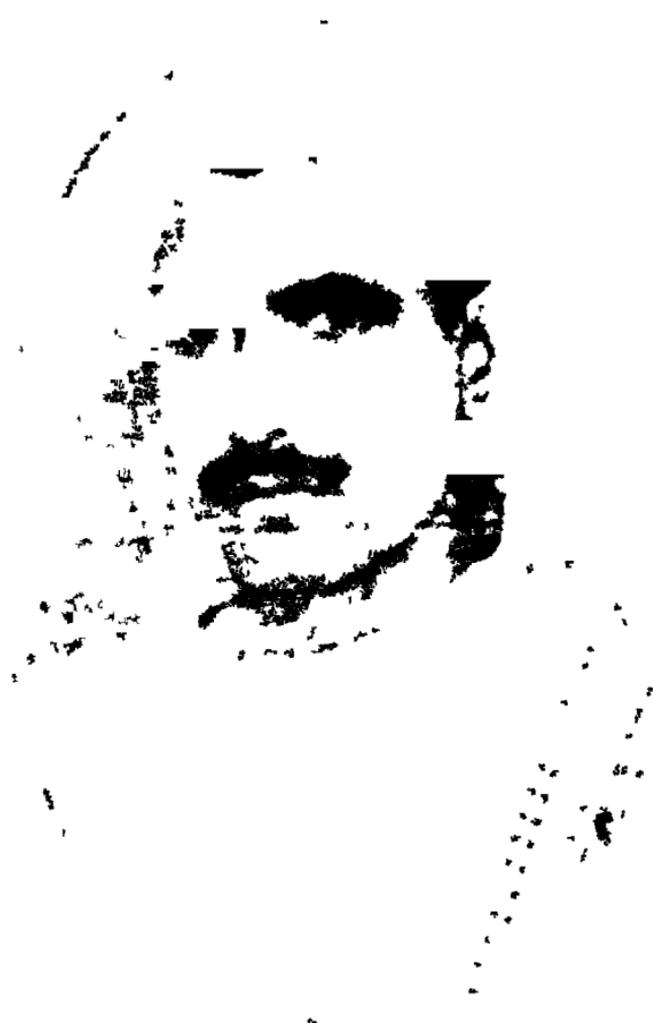
कृष्ण-गीता

पहिला अध्याय

गीत १

सुनादे कर्मयोग--सन्देश ।
भेज भेज श्रीकृष्ण सरीखा दूत, दूरकर क्लेश ॥
सुनादे कर्मयोग-सन्देश ॥ १ ॥

दे विराट दर्शन इस जग को झाँकी सी दिखजाय ।
अन्तस्तल की पट्टीपर नव कर्मयोग लिखजाय ।
निशा मे चमकादे राकेश ।
सुनादे कर्मयोग-सन्देश ॥ २ ॥

अकर्मण्यता हटे, घटे मानवता का अज्ञान ।
घर घर मे हो घट घट मे हो कर्मयोग का गान ।
दिखाई दे नटनागर वेश ।
सुना दे कर्मयोग सन्देश ॥ ३ ॥

रोने लगी तब शान्ति देवी बन्धुता रोने लगी ।
सोने लगी सद्वृत्ति ब्रह्मा को व्यथा होने लगी ॥ ९ ॥

कुरुक्षेत्र मे आकर डटे नरमेध करने के लिये ।
दीपक शिखा मे शलभ बन बेमौत मरने के लिये ॥
यमराज के मुख मे नरो का रक्त भरने के लिये ।
दौर्जन्यसे सौजन्यके सब प्राण हरने केलिये ॥ १० ॥

श्रीकृष्ण के आगे विकटतर यह समस्या थी खडी ।
'नर-नाश या नय-नाश मे से क्या चुनूँ मैं इस घड़ी ॥
कर्तव्य मेरा है यहाँ क्या, धर्म की रक्षा कहाँ'
सोचा 'वही है धर्मरक्षा न्याय की रक्षा जहाँ ॥ ११ ॥

अन्यायियों के नाश मे, न्यायी-जनो के त्राण में ।
रहती अहिंसा भगवती यो विश्वके कल्याण मे ॥
फिर भी लडूँगा मै नहीं, लोहा न लूँगा हाथ मे ।
निःशस्त्र होकर मै रहूँगा पार्थ के बस साथ मे ॥ १२ ॥

योगेश ने यो पाण्डवो की प्रार्थना पर मन दिया ।
नटनागरी का कर प्रदर्शन सूत का बाना लिया ॥
वे कर्म-योगेश्वर रहे कर्तव्य मे फिर मान क्या ?
योगी जगत्सेवक हुए फिर शूद्रता का ध्यान क्या ॥ १३ ॥

मानव-जगत का सारथी--रथ सारथी बन कर चला ।
निःशस्त्र था पर पापियो के सिर पड़ी मानो बला ॥
अन्यायियो का सूर्य तपकर, अस्त होने को ढला ।
रोने हुए से पाण्डवा का भाग्य से संकट टला ॥ १४ ॥

जिनकी सुरक्षित गोद मे, पलकर खड़ा मैं हो सका,
जिनकी कृपा से नर बना, पशुरूप अपना धो सका ॥२०॥

उन पूज्य पुरुषो से करू, सम्बन्ध यदि टूटा हुआ।
फेकूँ उन्ही पर बाण मै, गाडीव से छूटा हुआ ॥
तो नीति क्या रह जायगी, सौजन्य क्या रह जायगा।
कैसे विधाता का हृदय रोये बिना रह पायगा ॥२१॥

ससार मे संतान का पालन करेगे लोग क्यो ?
सतान पालन का करेगे, लोग फिर दुखभोग क्यो ।
ब्रह्मांड मे होगा प्रलय, मानव न तब बच पायगा,
बस मौत नाचेगी यहाँ, मरघट यहाँ रह जायगा ॥२२॥

धनु पकड़ने की भी कला, जिनने सिखाई थी मुझे ।
सब शस्त्र-विद्या की यहां, झॉकी दिखाई थी मुझे ॥
उन पूज्य द्रोणाचार्य का, कैसे करूंगा घात मै ।
भगवान के दरबार मे, कैसे करूंगा बात मै ॥२३॥

माता पिता से भी अधिक, गुरुदेव का उपकार है,
कल्याण-कारक है वही, उनका अनोखा प्यार है ।
उपकार सारे भूलकर उनसे लडूँगा आज मै ।
हा आज जोडूँगा यहाँ सारे नरक के साज मै ॥२४॥

जिनको खिलाया गोद में था, प्रेम से चुंबन किया,
सिर और कंधो पर किया, हाथो दिया हाथो लिया ।
उनपर चलेगा अब धनुष, धिक्कार है धिक्कार है;
वात्सल्य का है खून यह, यह घोर अत्याचार है ॥२५॥

लाखो आँखो से यहाॅ, निकलेगी जलधार ।
होगा जग मे जल-प्रलय, डूबेगा संसार ॥२६॥
भुवन भस्म होजायगा, होगा लंका-कांड ।
आहों से भर जायगा, यह सारा ब्रह्मांड ॥२६॥
भवन भ्रष्ट हो जाँयँगे, नगर नरक के धाम ।
घूक बसेंगे या यहाॅ, निशिदिन आठो याम ॥३०॥
क्षमा करो माधव मुझे, करदो युद्ध-विराम ।
प्राण जॉयॅ होऊॅ न पर मै जगमें बदनाम ॥२८॥

द्रुत-विलम्बित

हृदय के सब भाव निचोड़ के ।
रख दिये ममतावश जोड़के ।
अति विपाद-भरा मुँह मोड़के ।
धनुप छोड़ दिया दिल तोड़के ॥२९॥

दूसरा अध्याय

यों जब कल्पित पाप से हुई पार्थ को भीति।
लगे सिखाने कृष्ण तब कर्मयोग की नीति ॥१॥

गीत २

अर्जुन झूठी नातेदारी।
दुनिया है बाजार, स्वार्थ के हैं सब ही व्यापारी।
अर्जुन झूठी नातेदारी ॥२॥

किसको कहता है भाई तू, किसको कहता तात।
किसकी सुनता कौन ? यहाँ है अपनी अपनी बात ॥
है झूठी नाते की यारी।
अर्जुन झूठी नातेदारी ॥३॥

वह क्या नातेदार, स्वार्थ के लिये हमें दे छोड़।
अन्यायी बन जाय प्रेम का भी बन्धन दे तोड़ ॥
है जो कोरा स्वार्थ-विहारी।
अर्जुन झूठी नातेदारी ॥४॥

जो है त्यागी गुण-अनुरागी है वह नातेदार।
विश्व-मित्र जो गुण-पवित्र जो सेवा का अवतार ॥
दुखिया दुनिया जिसको प्यारी।
अर्जुन झूठी नातेदारी ॥५॥

बोल बोल हैं कौन यहां पर तेरे नातेदार।
कौन न्याय के लिये मरा है, छोड़ा है संसार ॥
तेरा प्रेमी सत्य--पुजारी।
अर्जुन झूठी नातेदारी ॥६॥

मोह छोड़ दे, बन्ध तोड़ दे, रख मनमे समभाव।
कर कर्तव्य अभेद-बुद्धि से, रहे रंक या राव ॥
सब का जीवन हो सुख-कारी।
अर्जुन झूठी नाते--दारी ॥ ७ ॥

गीत २

द्रौपदी के क्यो भूला केश।
ये तेरे ही बन्धु वहाँ थे बने हुए न्यायेश ॥
द्रौपदी के क्यो भूला केश ॥८॥

पुष्पवती थी वह बेचारी, तुम थे मृतक--समान।
पर ये कोई काम न आये ढोंगी नीति-निधान।
बने ये अर्थदास असुरेश।
द्रौपदी के क्यो भूला केश ॥९॥

दुःशासन ने केश खींचकर; दिया उसे झकझोर।
चीख उठी अबला बेचारी, देखा चारो ओर ॥
पुकारा 'लज्जा रखो रमेश'।
द्रौपदी के क्यो भूला केश ॥१०॥

फिर भी तेरा बन्धु न मारा, मानवता दी छोड़।
भरी सभामे खींचा अंचल उसके हाथ मरोड़ ॥

न रहने पाई लज्जा लेश ।
द्रौपदी के क्यों भूला केश ॥११॥

अतरीक्ष फट पडा, मचा दुनिया में भारी शोर ।
पर तेरे नातेदारों के फटे न हृदय कठोर ॥
बने पत्थर की मूर्त्ति नगेश ।
द्रौपदी के क्यो भूला केश ॥१२॥

भीष्म द्रोण कृप सभी वहाँ थे, तेरे पिता समान ।
पर अपने अपने पेटो का रक्खा सबने ध्यान ।
कहाते थे फिर भी वीरेश ।
द्रौपदी के क्यों भूला केश ॥१३॥

कौन पुरुष होकर सह सकता, नारी का अपमान ।
अब भी खुली हुई है वेणी, रख तू उस का ध्यान ॥
बने भारत आर्यों का देश ।
द्रौपदी के क्यो भूला केश ॥१४॥

दोहा

'मेरा तेरा' मे पड़ा, डूब गया ससार ।
मोही, ममता छोड़ दे, कर तू शुद्ध विचार ॥१५॥

'मेरा मेरा' कर रहा, पर तेरा है कौन ।
जहां स्वार्थ बाधा पड़ी हुए सकल जन मौन ॥१६॥

अपना है तो धर्म है, पर है सदा अधर्म ।
'मेरा तेरा' छोड़ कर, कर न्यायोचित कर्म ॥१७॥

सज्जनता की जीत हो दुर्जनता की हार ।
पाप निकंदन कर सदा, कर हलका भू-भार ॥१८॥
मोह ममत्व न पास रख कर तू उचित विचार ।
वीतराग बन खोल दे शुद्ध न्याय का द्वार ॥१९॥

गीत ४

जग में रह न सके अन्याय ।
नातेका सम्बन्ध तोड़ कर ।
न्याय धर्म से प्रेम जोड़ कर ।
प्राणों का भी मोह छोड़ कर ।
बन तू न्याय-सहाय ॥ जगमें... ... ॥२०॥
नातेकी है झूठी माया ।
अपना हो या हो कि पराया ।
जिसपर गिरी पापकी छाया ।
कर उसका सदुपाय ॥ जगमें . . . ॥२१॥
जीवन रोटी पर न बिकावे ।
पाप न जग पर राज्य जमावे ।
अबलाओं की लाज न जावे ।
धर्मराज आजाय ॥ जगमें........॥२२॥

गीत ५

भाई कर मत यह नादानी,
भूल रहा क्यों मोहित होकर अपनी कठिन कहानी । भाई. ।
याद नहीं आता है तुझको ।
यह सब कहना पड़ता मुझ को ॥

दुर्योधन बोला था "दूंगा नहीं सुई की नोक।
दूंगा सारे पांडव दल को मृत्यु--कुंड में झोंक॥
निर्बल का है कौन सहाय।
जिसकी लाठी उसका न्याय॥
अब कैसे तू भूल गया है उसकी यह शैतानी। भाई. ॥२३॥
भाई कर मत यह नादानी,
जीवन मोती के समान है, मत उतार तू पानी। भाई.।
क्यों अपना गौरव खोता है।
ममता का शिकार होता है॥
तुझ को नहीं विचार रहा है कहाँ न्याय अन्याय।
तू मानव है भूल गया पर मानवता भी हाय॥
देखा चमड़े का सम्बन्ध।
नाते की माया में अन्ध॥
कुल कुटुम्ब के झगड़े में पड़, भूला न्याय निशानी। भाई. ॥२४॥
भाई कर मत यह नादानी,
न्याय तुला लेकर बैठा फिर कैसी आनाकानी। भाई.।
कोई नातेदार कहाता।
न्यायी का क्या आता जाता॥
शुद्ध हृदय से करता रहता है वह अपना काम।
दुनिया की पर्वाह न करता नाम हो कि बदनाम॥
कोई भी हो नातेदार।
कर तू न्याय न बन बेकार।
पक्षपात से न्याय--तुला की कर मत खींचातानी। भाई. ॥ २५ ॥

हरि-गीतिका

अन्याय का कर सामना, सब मोह ममता छोड़ दे।
अपना पराया कौन है? संबंध सारा तोड़ दे॥
है द्रौपदी तेरी नहीं, तेरा न वह परिवार है।
पर एक महिला पर हुआ यह घोर अत्याचार है॥२६॥
अन्याय को विजयी कभी बनने न देना चाहिये।
सबको सदा भूभार हरकर पुण्य लेना चाहिये॥
हो न्याय का रक्षण सदा अन्याय विजयी हो नहीं।
शैतान या शैतानियत जगमें न रह पाये कहीं॥२७॥

हो शत्रु भी न्यायी अगर तो पात्र है वह प्यार का।
हो पुत्र भी पापी अगर तो पात्र है संहार का॥
है न्याय की रक्षा जहां अन्याय का अपमान है।
रहता जहा ईमान है रहता वही भगवान है॥२८॥

पक्षान्धता सब छोड़ दे, कर न्याय की सेवा सदा।
कर्तव्य करने के लिये तैयार रह तू सर्वदा॥
कहता नहीं हूँ कार्य्य कर तू स्वार्थ-रक्षण के लिये।
कहता यही कर्तव्य कर, अन्याय-तक्षण के लिये॥२९॥

यह मोह माया छोड़ दे, अपना पराया कौन है॥
निज-कुल कहाया कौन है, पर-कुल कहाया कौन है॥
पर खेल सच्चा खेल जिस मे न्याय का ही दाव हो।
तू क्षत्रियोचित कर्म कर जिस मे सदा समभाव हो (६९)

तीसरा अध्याय

अर्जुन— **दोहा**

माधव मेरा प्रश्न यह, बना गूढ़ से गूढ़ ।
पथ न सूझता, मैं हुआ—किंकर्तव्य-विमूढ़ ॥१॥
बात तुम्हारी ठीक है, पर मेरी भी ठीक ।
कैसे मैं निश्चय करूं, क्या है लीक अलीक ॥२॥
समभावी बन युद्ध हो, मिले योग से भोग ।
करते हो जल अनल में, यह कैसा सहयोग ॥३॥
ये दोनों कैसे बने, युद्ध और समभाव ।
चतुर खिलाड़ी बोलदो कैसा है यह दाव ॥४॥
घोर महाभारत बना, यह मन का संग्राम ।
करूं समन्वय किस तरह, कैसे हो विश्राम ॥५॥

श्रीकृष्ण— **गीत ६**

भाई, समन्वयी संसार ।
विविध रसों का मेल नहीं हो, तो है जीवन भार ॥
भाई, समन्वयी संसार ॥६॥
मीठा ही मीठा भोजन हो, फिर क्या उसमें स्वाद ।
अम्ल तिक्त लवणादि रसों के बिना स्वाद बर्बाद ॥
फिर तो भोजन है बेगार ।
भाई, समन्वयी संसार ॥ ७ ॥
सुन्दरता के लिये एक ही रंग नहीं तू बोल ।
रंगों का है जहाँ समन्वय चित्र वहीं अनमोल ॥

दिखता है सौन्दर्य अपार ।
भाई, समन्वयी संसार ॥ ८ ॥

युद्ध और समभाव अनलजल, जीवन का है मेल ।
है विरोध का पूर्ण समन्वय, जगका सारा खेल ॥
तब ही बहती जीवन-धार ।
भाई, समन्वयी संसार ॥ ९ ॥

गीत ७

कठिन कर्तव्य है अर्जुन, कठिन सत्पंथ पाना है ।
विरोधों से भरी दुनिया समन्वय कर दिखाना है ॥ १० ॥
अनल की ज्योति है बिजली, चमकती जो कि बादल मे ।
बनाया नीर के घर को, अनल ने आशियाना है ॥ ११ ॥
किसी के गोर मुखड़े पर, सुहाते बाल हैं काले ।
सुहाता नील अँखियाँ है, सुहाता तिल निशाना है ॥ १२ ॥
प्रकृति के नील अङ्गण मे, सुहाता चन्द्रमा कैसा ।
विविधता के समन्वय मे, खुदाई का खजाना है ॥ १३ ॥
चमन मे भी सदा दिखता, विरोधो का समन्वय ही ।
कहीं है काटना डाली, कहीं पौधे लगाना है ॥ १४ ॥
अनुग्रह और निग्रह कर, मगर समभाव रख मनमे ।
चमन का बागवां बन तू, चमन तुझको बनाना है ॥ १५ ॥

अर्जुन—

गीत ८

विक्षोभ रहे मन मे न ज़रा, सब काम करूं बोलो कैसे ?
मनमे थोड़ा भी वैर न हो फिर, प्राण हरूं बोलो कैसे ॥१६॥

रसरंग हृदय मे हो सब ही, फिर भी मन चचल हो न सके।
पानी मे भीजे पैर नही, फिर सिन्धु तरू बोलो कैसे ॥ १७ ॥
'जब चाह नही तब राह कहाँ' बे-मतलब कैसे राह चलूं।
मदिरा का कुछ भी मोह न हो फिर चषक भरू बोलो कैसे ॥१८॥
मनमोहन तुम मुसकाते हो, पर मेरी कठिन कहानी है।
काँटो की सेज बिछी है जब, तब पैर धरू बोलो कैसे ॥ १९ ॥

श्रीकृष्ण—

(गीत ९)

भोले भाई मत भूल यहा. दुनिया यह नाटक-शाला है।
सब भूल रहे असली स्वरूप, बन रहा जगत मतवाला है ॥२०॥
बनता है कोई बन्धु यहा, बनता है शत्रु यहा कोई।
कोई घर का है अंधकार कोई जग का उजियाला है ॥ २१ ॥
ले वेष भिखारी का कोई, कण कण को भी मुँहताज बना।
ऐयाश बना दिखता कोई, पीता मदिरा का प्याला है ॥२२॥
भिल्लिनी रूप रखकर कोई, गुजाओ से शृङ्गार करे।
ले लिया किसी ने राज-वेष, पहिनी मणियो की माला है ॥२३॥
कोई नृकीट कहलाता है, जिसको न पूछता है कोई।
कोई महिमा का सागर है, घर घर मे जिसका चाला है ॥२४॥
अपने अपने में मस्त बने, सब खेल खेलते है अपना।
तू भी अपना यह खेल खेल, जो सुंदर खेल निकाला है ॥२५॥
जैसा है तुझ को वेष मिला वैसा तू भी रँगढग दिखा।
सब बन्धु बन्धु हैं यहा किन्तु, नाटक का रग निराला है ॥२६॥
रोले हँसले मिलले लड़ले, जैसा अवसर हो सब कर ले।
पर समभावी रह भूल नहीं, तू नाटक करनेवाला है ॥ २७ ॥

गीत १०

खेलना होगा तुझको खेल।

दुनिया यह नाटकशाला है;

तू नाटक करनेवाला है।

तू न भाग सकता, जीवन है, पात्रो का ही मेल।

खेलना होगा तुझको खेल ॥२८॥

बन जाना रागी वैरागी;

कहलाना भोगी या त्यागी।

सभी खेल है चतुर खेलते मूर्ख बने उद्वेल।

खेलना होगा तुझको खेल ॥२९॥

क्या है जीना क्या है मरना;

यह है खेल सभी को करना।

सब हँस हँस कर चोट झेलते तू भी हँसकर झेल।

खेलना होगा तुझको खेल ॥३०॥

गीत ११

मत भूल मर्म की बात, खेल संसार है।

तू समझ खेल का मर्म जो सुखागार है ॥३१॥

सभी खिलाड़ी जुड़े हुए है, है न वैर का नाम।

पर अपनी अपनी पाली का सब ही करते काम ॥

मची भरमार है।

मत भूल मर्म की बात, खेल ससार है ॥३२॥

भाई भाई बटे हुए है, है न वैर का लेश।

प्रतिद्वन्दिता दिखती है, पर है न किसीको क्लेश ॥

हृदय मे प्यार है।

मत भूल मर्म की बात, खेल संसार है ॥३३॥

लेन देन का काम नहीं है, है न नफा नुकसान।
पर सब का हिसाब है, सबको, उसी बातका ध्यान ॥
जीत है हार है।
मत भूल मर्म की बात, खेल ससार है ॥२४॥

बालक सा निर्दोष हृदय कर, खेल जगत के खेल।
हो न वासना बैर-भाव की, रहे प्रेम का मेल ॥
प्रेम शृङ्गार है।
मत भूल मर्म की बात खेल संसार है ॥२५॥

फल में है अधिकार न तेरा, फल की आशा छोड।
करता रह कर्तव्य, स्वार्थ के सब दुर्बन्धन तोड ॥
यहीं अधिकार है।
मत भूल मर्म की बात, खेल ससार है ॥२६॥

अर्जुन— **गीत १२**

दुनिया का सारा काम रहे, फिर भी भीतर का ध्यान रहे।
माधव बोलो, यह कैसे हो दोनो का बोझ समान रहे ॥२७॥

मन तो है मुझको एक मिला, दो जगह इसे बाटूं कैसे ?
सम्भव है कैसे इस मन मे, रोकरके भी मुसकान रहे ॥२८॥

श्रीकृष्ण— **दोहा**

मन बटता है किस तरह, सीख यही विज्ञान।
इसीलिये करले तनिक, पनिहारी का ध्यान ॥२९॥

गीत १३

धर गागरिया का भार चली पनिहारियाँ।
कर बतियन की भरमार चली पनिहारियाँ ॥४०॥
एक सखी चल ठुमुक ठुमुक पर रख गगरी का ध्यान।
बोली रस रस की सब बतियाँ, अधर धरी मुसकान॥
भरी रस झारियाँ।
धर गागरिया का भार चली पनिहारियाँ ॥४१॥
फुलझडियो सी झडी मगर था मन गगरी की ओर।
कुजगलिन मे बरसाया रस, नाचा मन का मोर॥
सिचगई क्यारियाँ।
धर गागरिया का भार चली पनिहारियाँ ॥४२॥
मन था एक ध्यान घट का था बाते किंतु हज़ार;
एक बात पर बात दूसरी होती थी तैयार ॥
अज़ब तैयारियाँ।
धर गागरिया का भार चली पनिहारियाँ ॥४३॥
मन है एक, बाटना कैसे, करले इस का ज्ञान।
कर्मयोग की नीति सीख, कर पनिहारी का ध्यान।
नीति-गुरु नारियाँ।
धर गागरिया का भार चली पनिहारियाँ ॥४४॥

हरिगीतिका

स्थिति-प्रज्ञ बनकर कर्मकर समभाव मन में रख सदा।
बन कर्मयोगी नीति का रख ध्यान मन मे सर्वदा॥
मत राग कर मत द्वेष कर अभिमान भी आने न दे।
तू विश्व-हित मे लीन रह कर्मण्यता जाने न दे॥११४॥

चौथा अध्याय

अर्जुन—

स्थिति-प्रज्ञ होऊ किस तरह योगेश समझाओ मुझे।
आगे बढ़ूँ बोलो किधर सत्पथ दिखलाओ मुझे॥
स्थिति-प्रज्ञ योगी के कहो क्या चिह्न क्या जीवन कथा
कर दो कृपाकर दूर मेरे मूढ़ मानसकी व्यथा॥ १॥

श्रीकृष्ण— स्थितिप्रज्ञ का रूप

जो माँ अहिंसा का दुलारा बन्धु सब संसार का।
जो सत्य प्रभका पुत्र है योगी सदा है प्यार का॥
जिसकी न कोई जाति है जिसकी न कोई पाँति है।
जिसका न कोई ज्ञाति है जो विश्वका हर भाँति है॥ २॥

संसार भरके सब मनुज है जाति-भाई से जिसे।
है जाति नामक भेद खंदक और खाई से जिसे॥
जिसको न कुलका पक्ष है सब को बराबर मानता।
कोई रहे, यदि हो सदाचारी कुटुम्बी जानता॥ ३॥

संसार जिसको उच्च अथवा नीच शब्दो से कहे ।
उसके लिये जिसके हृदय मे साम्य ही जागृत रहे ॥
मद हैं न जिसको जाति का या वर्ण का परिवार का ।
गौरव सदा जिसके हृदय मे है जगत के प्यार का ॥ ४ ॥

पुरुषत्व का अभिमान भी जिसको कभी आता नहीं ।
नर नारियो मे जो विषमता-भाव है लाता नही ॥
है देवियॉ सी नारियॉ जिसके लिये संसार मे ।
स्वाधीन करता है उन्हे रखता न कारागार मे ॥ ५ ॥

जो सर्वधर्मसमानता के तत्व मे अनुरक्त है ।
मिलता जहाँ पर सत्य है बनता वही पर भक्त है ॥
करता सदा गुण का ग्रहण दुर्गुण हटाता है सदा ।
सारे महात्मा-वृन्द में रखता विनय है सर्वदा ॥ ६ ॥

मत-मोह है जिस मे नही बस सत्य मे अनुराग है ।
पक्षान्धता की वासना का सर्वदा ही त्याग है ॥
जो है पुजारी सत्यका निष्पक्षता से युक्त है ।
पूरा विवेकी और ज्ञानी अन्धश्रद्धा–मुक्त है ॥ ७ ॥

हो रूढ़ि नूतन या पुरानी पर गुलामी है नहीं ।
प्राचीनता का मोह सदसद्बुद्धि--स्वामी है नही ॥
कर्तव्य-निर्णयकी कसौटी विश्वका कल्याण है ।
होती सुधारकता जहाँ होता वही पर त्राण है ॥ ८ ॥

जो इन्द्रियो की वश्यता या दासता से दूर है ।
समभाव और सहिष्णुता जिसमे सदा भरपूर है ॥

प्रतिकूल से प्रतिकूल विषयों की व्यथा जिसको नहीं ।
नीरस सरस कुछ भी रहे दुखकी कथा जिसको नहीं ॥ ९ ॥

जो है मनोविजयी न जिसको मन नचा पाता कभी ।
दुर्वृत्तियों को पीसता उनके न वश आता कभी ॥
मनको बनाता देव-मन्दिर प्रेम--सिंहासन जहाँ ।
माता अहिंसा का तथा सत्येश का आसन जहाँ ॥ १० ॥

जिसका अहिंसा व्रत रहे ध्रुव मेरुसा निश्चल सदा ।
दुःस्वार्थ के कारण न जग पर डालता जो आपदा ॥
हो पूर्ण करुणा-मूर्ति कायरता मगर आने न दे ।
जो न्याय को जलने न दे अन्याय को फलने न दे ॥११॥

जो वज्रसा भी हो कठिन पर फूलसा कोमल रहे ।
अन्यायियों पर हो अनल न्यायीजनों पर जल रहे ॥
आपत्तियों की चोट सहने का हृदय में बल रहे ।
सत्प्रण किया तो कर लिया पालन और निश्चल रहे ॥ १२ ॥

जिसकी तराजू न्याय की कोई हिला सकता नहीं ।
अन्याय को अणुमात्र भी सुविधा दिला सकता नहीं ॥
या लाँच रिश्वतकी कभी मदिरा पिला सकता नहीं ।
सम्बन्ध से पक्षान्धता का विष मिला सकता नहीं ॥१३॥

यदि एक पलड़े पर रखी संसार की सम्पत्ति हो ।
भय और विपदाएँ रहें सम्राट् की भी शक्ति हो ॥
पर दूसरे पर न्याय हो तो न्याय ही जय पायगा ।
गौरव मिलेगा न्याय को अन्याय लघु रह जायगा ॥१४॥

माता बहिन अथवा सुता जिसको सदा परकामिनी ।
गार्हस्थ्य जीवन मे सदा है भामिनी ही स्वामिनी ॥
दाम्पत्य की अकलंकता जीवन रसायन है जिसे ।
निज प्राण से भी प्रिय अधिकतर शीलमय-मन है जिसे ।१५।

ऐश्वर्य को जिसने न समझा श्रेष्ठता का माप है ।
समझा वृथा सम्पत्ति--संग्रह पाप का भी बाप है ॥
सम्पत्ति जिसको बोझ है बस दान की ही चाह है ।
आवे न आवे नष्ट हो जावे न कुछ पर्वाह है ॥१६॥

सम्पत्ति पाई पर समझता है कभी स्वामी नहीं ।
है भोग सारे हाथ मे बनता मगर कामी नहीं ॥
घर मे भरा भंडार हो, फिर भी न अधिकारी बने ।
स्वामित्व की दुर्वासना से शून्य भंडारी बने ॥१७॥

धनका उचित उपयोग हो इसका सदा ही ध्यान है ।
होती जरूरत है जहॉ करता वही पर दान है ॥
पर दान को मनमे समझता भी नहीं अहसान है ।
करता सदा वह विश्व-हित में स्वार्थ का अवसान है ॥१८॥

अधिकार कितना भी रहे मद है न पर अधिकार का ।
अधिकार मे भी ध्यान है सब के विनय का प्यारका ॥
अधिकार के बदले कभी पाता न जो धिक्कार है ।
अधिकार के उपयोग में आता न पापाचार है ॥१९॥

पाये सफलता पूर्ण पर अभिमान है लाता नहीं ।
व्यक्तित्व ईश्वर-सम बने उन्माद पर आता नहीं ॥

जिसकी महत्ता है विनय के रूप मे परिणत सदा ।
गौरव शिखर पर भी चढा हो किन्तु मस्तक नत सदा ॥२०॥

मुख देखकर करता नहीं जो नीतिका निर्माण है ।
जिसकी कसौटी नीतिकी ससार का कल्याण है ॥
माने न माने यह जगत करता जगत का त्राण है ।
है प्राण आवश्यक जहाँ देता वहीं पर प्राण है ॥२१॥

मानी नहीं मायी नहीं लोभी नहीं क्रोधी नहीं ।
परमार्थ जिसका स्वार्थ है कल्याण-पथ-रोधी नहीं ॥
ससार के उद्धार में जो मानता उद्धार है ।
जिसको जगत के प्राणियों पर नित्य सच्चा प्यार है ॥२२॥

पालन करे पुरुषार्थ सब सर्वत्र सत्कर्मी रहे ।
अर्थी रहे त्यागी रहे कामी रहे धर्मी रहे ॥
सारी कलाओ में सुरुचि हो हो विकल जीवन नहीं ।
हो सब रसों मे एक रस रसहीन जिसका मन नहीं ॥२३॥

आलस्य हो जिसमे नहीं झूठा नहीं विश्राम हो ।
दिनरात हो कर्तव्यमय कर्मण्यता का धाम हो ॥
लेकिन सदैव निवृत्ति का रखना हृदय मे ध्यान हो ।
दु स्वार्थ से बचता रहे परमार्थ का गुणगान हो ॥२४॥

हठ है न जिसको बातका कल्याण का ही ध्यान है ।
कर्तव्य मे जिसको बराबर मान या अपमान है ॥
कर्तव्य मे जो लीन है फलकी न आशा भी जिसे ।
क्षणको अनुत्साही न कर सकती निराशा भी जिसे ॥२५॥

विपदा जिसे दुर्दैन्य की चोटें खिला सकती नहीं।
जिसका अदम्योत्साह मिट्टी में मिला सकती नहीं॥
सम्पत् जिसे अभिमान की मदिरा पिला सकती नहीं।
कर्तव्य के सन्मार्ग से अणुभर हिला सकती नहीं॥२६॥

कर्तव्य-पथ मे मौत भी जिसको डरा सकती नहीं।
संसार भर की शक्ति अनुचित कृति करा सकती नहीं॥
जो घूमता है, मौत को अपनी हथेली पर लिये।
जीवन मरण की लालसा से दूर अपना मन किये॥२७॥

जिसको अयशका डर नहीं यश की न अधी चाह है।
हो नाम या दुर्नाम केवल सत्य की पर्वाह है॥
जिसने निकाली कीर्ति की अपकीर्ति मे से राह है।
दुनिया उसे कुछ भी कहे अपने हृदय का शाह है॥२८॥

सेवा न पहिचाने जगत पूछे न कोई बात भी।
कोई सुनावे गालियाँ कोई लगावे लात भी॥
दम्भी फिरें रथपर चढ़े यह धूल ही फाँका करे।
सत्कार हो उनका वहाँ यह दूर ही झाँका करे॥२९॥

फिर भी नहीं जिसके हृदय मे चाटुकारी आ सके।
खुश याकि नाखुश हो जगत जिसका न दिल पिघला सके॥
कर्तव्य करना है जिसे यश लूट लाना है नहीं।
सेवा बजाना है जिसे जगको रिझाना है नहीं॥३०॥

आदर अनादर या उपेक्षा एक सी जिसको सदा।
जिसके बदन पर दे दिखाई मुस्कराहट सर्वदा॥

जिसको निराशा हो नही नौका अडी मॅझधार हो ।
जीवन भले इसपार हो आशा मगर उस पार हो ॥३१॥

ससार को जो दे अधिक पर न्यून ही लेता रहे ।
जीवन लगादे, विश्व को सेवा सदा देता रहे ॥
परकार्यसाधक साधु हो जो साधुताकी मूर्ति हो ।
जिसका कुटुवी हो न कोई वह उसी का पूर्ति हो ॥३२॥

स्थितिप्रज्ञ कहते हैं इसे अच्छी तरह तू जान ले ।
निर्लिप्त रहकर कर्म करने की कला पहिचान ले ॥
सदसद्विवेक मिला तुझे उसका कहा तू मान ले ।
कर्तव्य प्रस्तुत है यहॉ तू पूर्ति का प्रण ठानले ॥३३॥
(१४७)

पाँचवाँ अध्याय

अर्जुन—

[पीयूषवर्ष]

धन्य है माधव तुम्हे ज्ञानी तुम्ही ।
हो तृषातुर के लिये पानी तुम्ही ॥
अन्ध--जनकी आँखके तारे तुम्ही ।
दीन हीन अनाथके प्यारे तुम्हीं ॥१॥

मोह से पीडित अखिल संसार है ।
शोक चिन्ता तापकी भरमार है ॥
वह रही है यह विषैली सी हवा ।
रोग बढता ही गया ज्यो की दवा ॥२॥

है यहा कर्मण्यता मारी हुई ।
है श्रुति-स्मृति भी यहाँ हारी हुई ॥
यत्न है अब हो चुके सारे मुधा ।
पर पिलाई आज है तुमने सुधा ॥३॥

अब बनेगा स्वर्ग यह संसार भी ।
अब यहा निर्मोह होगा प्यार भी ॥

वैर भी निर्वैर--सा होगा यहाँ।
त्याग की जडता रहेगी अब कहाँ ॥४॥

है दवा अनुपम तुम्हारी हे सखे।
युक्तियाँ कल्याणकारी हे सखे॥
पर तुम्हे है एक कठिनाई यहां
रोग है शतान का भाई यहा ॥५॥

पा रहा अनुपम तुम्हारा प्यार हूँ।
और औषध के लिये तैयार हूँ॥
पर कहूँ क्या मैं कि मोहागार हू।
जन्मजन्मो का विकट बीमार हू ॥६॥

आ रहे सन्देह के चक्कर मुझे।
कटुकसा है दूध गुड शक्कर मुझे॥
बढ रहा चिन्ता अनल का ताप है।
बोलना भी आज बात-प्रलाप है ॥७॥

पर मिला जब वैद्य है तुमसा मुझे।
रोग की चिन्ता भला है क्या मुझे॥
हो परेशानी तुम्हें मैं क्या करू।
क्यो न सब सन्देह मैं आगे धरू ॥८॥

जो कही स्थिति-प्रज्ञकी तुमने कथा।
वह करेगी दूर जगकी सब व्यथा॥
मार्ग है अनुपम सुखो का गेह है।
किन्तु पदपद पर मुझे सन्देह है ॥९॥

विश्व-प्रेमी हो न माने जाति क्यों ?
और तोड़े कुल कुटुंबी ज्ञाति क्यो ?
उस विधाताने किये ये भेद क्यो ?
ईशकी कृति मे मनुज को खेद क्यो ॥१०॥

विप्र क्षत्रिय वैश्य क्या सम हैं कहो।
जन्म से द्विज शूद्र क्या हम है कहो ॥
एक द्विज भी हाय शूद्र समान हो।
क्यो न द्विजताका बड़ा अपमान हो ॥११॥

काच है तो काच ही कहलायगा।
वह न हीरक हारसे तुल पायगा ॥
शक्ति की प्रति-मूर्त्ति है जो शेर है।
श्वान से तुलना करो अन्धेर है ॥१२॥

हो न यदि वैषम्य तो संसार क्या।
हो न नर नारी विषम तो प्यार क्या ?
हो प्रलय यदि साम्यका अतिरेक हो।
कौन किसका हो अगर जग एक हो ॥१३॥

एकसे हो सब जरूरत क्या रहे ?
कौन किसका बोझ अपने पर सहे ॥
रह सके सहयोग का फिर नाम क्यो।
काम क्यो ये धाम क्यो ये ग्राम क्यो ॥१४॥

है विषमता है तभी सहयोग भी।
है विविध रस है तभी ये भोग भी ॥

यदि सभी हों एक, क्या होगा भला ?
रह न पायेगी कला घुट कर गला ॥१५॥

एक सज्जन एक दुर्जन क्रूर हो।
एक कायर एक दिखता शूर हो॥
विविधता जब इस तरह भरपूर हो।
क्यों न तब वह प्रकृति को मजूर हो॥१६॥

जातियों की है विविधता व्यर्थ क्या ?
जातिके समभाव का है अर्थ क्या।
दूर कर संदेह समझाओ मुझे।
सत्यके पथपर सखे लाओ मुझे ॥१७॥

श्रीकृष्ण— गीत १४

भोले भाई तू भूल रहा कुछ जाति भेद का ज्ञान नहीं।
वैषम्य साम्य है योग्य कहाँ इसकी तुझको पहिचान नहीं॥
यदि हो समता का नाम नहीं जग मे केवल वैषम्य रहे।
तो पलभर मे हो जाय प्रलय जगका हो नाम निशान नहीं॥
यदि हो सत्ता का साम्य नहीं सारे जग मे मुझ मे तुझ मे,
तो शून्य रूप हो जगत रहे सत्ता का अणुभर भान नहीं॥
यदि चेतन की समता न रहे खगमे, मृगमे, मुझमे तुझमे।
जडता अखड होगी ऐसी होगा जिस का अवसान नहीं॥
मानवता भी यदि जाति न हो मानवकी क्या पहिचान रहे।
फिर पशुता का आक्रन्दन हो मानवता की मुसकान नहीं॥
वैषम्य, साम्यकी माया है यह साम्य ब्रह्म है व्याप्त यहां।

यदि ब्रह्म नही, तो मायाका भी हो सकता है भान नही ॥
विषमो मे यदि समता न रहे सहयोग बने कैसे उनमे ।
कैसे उनमे पूरकता हो दोनो हो अगर समान नही ॥
पद पाणि वक्ष सिर पीठ उदर इन विषमो मे समता न रहे ।
तो हो मुर्दों का ढेर जगन हो जीवन का कल्याण नही ॥
समता मे और विषमता मे मर्यादा और समन्वय हो ।
तो हो जीवन की वृद्धि यहां जडता का हो उत्थान नही ॥

गीत १५

निरर्थक भेद भाव दे छोड ।
एक जाति है मानव जगमे सब से नाता जोड़ ॥
निरर्थक भेदभाव दे छोड़ ॥२७॥

मैं हूँ गोरा तू है काला ।
मत कर भेद, न बन मतवाला ।
एकाकार मनुष्य जाति है उससे मत मुँह मोड ।
निरर्थक भेदभाव दे छोड़ ॥२८॥

पशु पक्षी नानाकृतिवाले ।
पर सब मानव एक निराले ॥
इसीलिये मानव मानव मे जातिभेद दे तोड ।
निरर्थक भेदभाव दे छोड़ ॥२९॥

विप्र कहाओ शूद्र कहाओ ।
अथवा क्षत्र वैश्य बनजाओ ॥
है केवल जीविका-भेद ये दे अभिमान मरोड ।
निरर्थक भेदभाव दे छोड़ ॥३०॥

गुण से ही मिलता सच्चा पद ।
उच्च नीच का है झूठा मद ॥
मदमय मन मत कर, विष हरकर, दे वह विष-घट फोड़ ।
निरर्थक भेदभाव दे छोड़ ॥३१॥

गीत १६

जातियाँ है सब कर्म-प्रधान ।
जैसा कर्म करे जो मानव वैसा उसका मान ।
जातियाँ है सब कर्म-प्रधान ॥३२॥
ब्राह्मण कुलमे पैदा होकर दिया न जगको ज्ञान ।
विद्या मे जीवन न दिया तो है वह शूद्र--समान ॥
जातियाँ है सब कर्म—प्रधान ॥३३॥
अगर शूद्र कुल मे पैदा हो लेकिन हो विद्वान ।
समझो विप्र, विप्रताकी है सद्विद्या पहचान ॥
जातियाँ है सब कर्म प्रधान ॥३४॥
जन्म निमित्तरूप है केवल है साधन सामान ।
साधन पाये कार्य न पाया व्यर्थ नामका गान ॥
जातियाँ है सब कर्म--प्रधान ॥३५॥
कार्य-सिद्धि होगई मिला यदि गुणगण का सन्मान ।
कारण पूरे हो कि अधूरे फिर क्या खींचातान ॥
जातियाँ है सब कर्म--प्रधान ॥३६॥
सामाजिक सामयिक भेद ये सुविधा के सामान ।
सामञ्जस्य यहा जैसे हो कर वैसे आदान ॥
जातियाँ है सब कर्म--प्रधान ॥३७॥

गीत १७

जातियाँ हमने बनाई कर्म करनेके लिये ॥
है नही ये दूसरो का मान हरने के लिये ॥३८॥

ईशकी कृतियॉ नहीं ये प्रकृति की रचना नहीं ।
कल्पना बाज़ार की है पेट भरने के लिये ॥३९॥

जिस तरह सुविधा हमे हो उस तरह रचना करे ।
जाति जीनेके लिये है है न मरने के लिये ॥४०॥

विप्रता की है ज़रूरत शूद्रताकी भी यहा
प्रेमसे जग मे मिलेंगे हम विचरने के लिये ॥४१॥

विप्रता का मद नहीं हो शूद्रता का दैन्य भी ।
हो परस्पर प्रेम यह संसार तरने के लिये ॥४२॥

हरि-गीतिका

उसमें रहे आसक्ति क्यो जिसका न कुछ जड मूल है ।
प्रासाद था जो एक दिन पर बन गया अब धूल है ।
जो फूलसा कोमल कभी था पर बना अब शूल है ।
अनुकूल था जो मूल मे अब हो गया प्रतिकूल है ॥४३॥

अर्जुन— (ललित पद)

माधव मेरा जाति-मोह अब है मरने को आया ।
पर बुझते दीपक समान है इसने ज़ोर जनाया ॥
जाति-भेद प्राकृत मत मानो ईश्वरकृति न बताओ ।
पर निःसार मानलूं कैसे इसकी युक्ति सिखाओ ॥४४॥

था [illegible] क्यों अनुकूल मूलमें अब प्रतिकूल हुआ क्यों ।
कभी था वह फूल किसी दिन फिर अब शूल हुआ क्यों ॥
था कभी प्रासाद रूप वह पर अब धूल हुआ क्यों ।
गोपा था किसलिये कभी वह अब गतमूल हुआ क्यों ॥४५॥

श्रीकृष्ण

जब था जाति-भेद जीवन में समता देनेवाला ।
नेताओं की जटिल समस्याएं हरनेवाला ॥
जब उसके द्वारा रोटी चिन्ता उड़ जाती थी ।
नीति श्रुति-स्मृति जाति-भेदको हितकर बतलाती थी ॥४६॥

इसमें अच्छी तरह अर्थ का होता था बटवारा ।
होता था सन्तोष सभी को बनकर शान्ति सहारा ॥
जीविका की थी बात वर्ण का था न मनुज अभिमानी ।
विप्र शूद्र सब एक घाट पीते थे मिलकर पानी ॥४७॥

वैवाहिक व्यवहार आदि मे सब विचार आते थे।
किन्तु जातिमद के विचार मुख भी न दिखा पाते थे ॥५०॥

जाति-भेद तब सार-युक्त था अब निस्सार हुआ है।
आया जब से दुरभिमान तबसे यह भार हुआ है॥
फैल गया है द्वेष आज दुर्लभतम प्यार हुआ है।
इसीलिये यह स्वर्ग-तुल्य जग, नरकागार हुआ है ॥५१॥

बदला कोमल हृदय इसीसे अब यह शूल हुआ है।
अब न शांति छाया मिलती है, इससे धूल हुआ है॥
लक्ष्य भ्रष्ट हो गया इसीसे अब गतमूल हुआ है।
बदल गया ससार इसीसे, अब प्रतिकूल हुआ है ॥५२॥

मूलरूप मे रहे जातियाँ, कोई हानि नही है।
किन्तु नष्ट हो जाय विकृति सब, फैली जहाँ कही है॥
कार्य्य-विभाग अवश्य रहे पर वह न अमिट हो पावे।
निज निजके अनुरूप सभीका, कार्य्यभेद बन जावे ॥५३॥

जाति भले मिटजाय, विषमता से न जगत है खाली।
सदा रहेगी वह जगमे, सहयोग बढानेवाली॥
रुचि आदिक का भेद रहे, वह है न कभी दुखदाई।
दुखदाई है जाति-भेद से बिछुडे भाई भाई ॥५४॥

भेद रहेगा और जरूरत होगी सबको सबकी।
इन भेदो से मगर जाति की, नातेदारी कब की?
भेद रहे वैषम्य रहे वह, जो सहयोग बढावे।
पर यह मानव-जाति न चिथड़े चिथडे होने पावे ॥५५॥

कर्म-भेद से जाति-भेद है वह कुछ अमिट नहीं है ।
ब्राह्मण बनो सिवाय फिर, रहता नहीं कहीं है ॥
देश जाति वंशादि भेद से नहीं जाति का नाता ।
पक्षपात मदमोह आदि में मनुज तुच्छ बनजाता ॥५६॥

जाति-मोह में न्याय और अन्याय भूल जाता है ।
कार्य्य-क्षेत्र में तब पद पद पर पक्षपात आता है ॥
प्रेम, न्याय का पक्ष छोड़ कर अंधा बन जाता है ।
ईर्षा और उपेक्षक बनकर ताण्डव दिखलाता है ॥५७॥

वीर छन्द

इसीलिये स्थितिप्रज्ञ जाति का मोह सदा रखता है दूर ।
सर्व-जाति-समभाव दिखाता, भेद भाव कर चकनाचूर ॥
रहता है निष्पक्ष न्यायरत विश्व-प्रेम का पूर्णागार ।
बनता है निर्मम और कर्तव्यशील वह परम उदार ॥५८॥

बन जा तू स्थितिप्रज्ञ जगत की झूठी माया से मुँह मोड़ ।
सारा मानव एक जाति है जातिपाँति के झगड़े छोड़ ॥
जो न्यायी है वही कुटुम्बी उसमें ही तू नाता जोड़ ।
करके अब कर्तव्य कर्म तू कुल कुटुम्ब का बन्धन तोड़ ॥५९॥
(२०६)
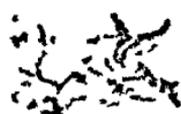
छट्ठा अध्याय
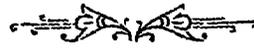
अर्जुन—

[रोला]

माधव मेरा जाति-मोह मर गया आज है ।
मानवता का आज मनोहर सजा साज है ॥
अब न जाति का पक्षपात मुझमे आवेगा ।
वंश-मोह कुल-मोह दूर ही रह जावेगा ॥१॥

जो न्यायी है और जगत को है सुखदाई ।
प्रेममूर्ति निष्पक्ष वही है मेरा भाई ॥
जन्म भेद से भेदभाव होना न चाहिये ।
सर्व-जाति समभाव कभी खोना न चाहिये ॥२॥

किन्तु यहां भी मुझे हो रहा है यह संशय ।
नरनारी का भेद करेगा समता का क्षय ॥
नरनारी की प्रकृति और आकृति विभिन्न है ।
इसीलिये सम-भाव-सूत्र हो रहा छिन्न है ॥३॥

नर है पौरुष-धाम सुधी कर्मठ बलशाली ।
दृढ़मन दृढ़तन निडर साहसी गुणगणमाली ॥

नारीका है भीरु हृदय, है कोमल काया ।
है विलासिनी और सदा करती है माया ॥४॥
हो दोनों में प्रेम, किन्तु हो ममता कैसे ।
समता यदि आ जाय रहे फिर ममता कैसे ॥
अधिकारों का द्वन्द क्यों न तब हो घर घरमें ।
हो दुर्लभ तब शान्ति हमारे जीवन--भरमें ॥५॥

श्रीकृष्ण--अर्जुन तुझमें पक्षपात हो रहा यहां है ।
पक्षपात है जहां वहां पर न्याय कहां है ॥
सब में हैं गुण दोष रहें नर अथवा नारी ।
किसी एक में है न गुणों का पलड़ा भारी ॥६॥

कैसा है वह कष्ट जिसे सह सके न नारी ।
कैसी वह दुर्दशा जहां रह सके न नारी ।
सहन-शीलता कूटकूट कर भरी जहां है ।
कह सकता है कौन न दृढ़ता भरी वहां है ॥१०॥

त्याग--वीरता--सहनशीलता--तप--चतुराई ।
ब्रह्मचर्य-वात्सल्य आदि गुणगण सुखदाई ।
नरनारी मे है समान कुछ भेद नहीं है ।
व्यक्ति-भेद से भेद जगत मे सभी कहीं है ॥११॥

है ऐसी नारियाँ नरोंसे बढ़ जाती जो ।
गुणगण-पारावार अधिक आदर पाती जो ।
है ऐसे भी पुरुष नारियो से बढ जाते ।
गुणगण के भंडार अधिक आदर जो पाते ॥१२॥

नारीमात्र न हीन नहीं नरमात्र हीन है ।
दोनो है स्वाधीन परस्पर या अधीन है ॥
एक शक्ति की मूर्त्ति एक है शिव की मूरति ।
दोनो है बेजोड़ परस्पर है पत्नी पति ॥१३॥

पति स्वामी, यह अर्थ पकड़ कर अगर रहोगे ।
तो पत्नीका अर्थ स्वामिनी क्यो न कहोगे ।
है अद्भुत सम्बन्ध परस्पर दोनो स्वामी ।
या है दोनो दास परस्पर या अनुगामी ॥१४॥

यद्यपि कुछ वैषम्य यहां हो रहा ज्ञात है
किन्तु उच्चता और नीचता की न बात है ॥

दोनों ही निज निज विशेषता लिये हुए हैं।
दोनों ही अन्योन्य परस्पर लिये हुए हैं ॥१५॥

नर की जो त्रुटि उसे पूर्ण करती है नारी।
नारी नर के लिये इसी से है सुखकारी ॥
यों नारी की कमी उसे नर पूरित करता।

छट्ठा अध्याय

'घर' नारीको दिया दिया जब नरको 'बाहर'
तब दोनो मे भाव-भेद दिख पडा यहां पर ॥
बाहर का संघर्ष नहीं नारीने पाया ।
कोमलता भीरुत्व इसीसे उसमे आया ॥२१॥

रणसज्जाका कार्य नहीं है घरके भीतर ।
इसीलिये है शस्त्रशून्य नारी जीवनभर ॥
फिर भी लड़ती वहां जहां है अवसर पाती ।
दिखलाती है शौर्य बिजलियाँ है चमकाती ॥२२॥

नर करता जो कार्य वही नारी कर सकती ॥
नर हरता जो विपद वही नारी हर सकती ॥
गुण दुर्गुण के योग्य सभी है नर या नारी ।
नर 'बेचारा' कभी कभी नारी 'बेचारी' ॥२३॥

घर बाहर का भेद बना भेदो का कारण ।
दूर हुआ ईमान और टूटा नरका प्रण ।
अर्थ-सूत्र का दुरुपयोग कर बैठा नर जब ।
नारी लुटसी गई न्यून अधिकार हुए तब ॥२४॥

तब ही अबला बनी बढ़ी तब उसकी माया ।
निर्बलता है जहां वहां मायाकी छाया ॥
नर या नारी रहे जहां निर्बलता होगी ।
होगा मायाचार वहीं पर खलता होगी ॥२५॥

यदि नर घरमे रहे रहे यदि नारी बाहर ।
नर नारी सा बने बने नारी मानो नर ॥

छट्ठा अध्याय

नारी को 'यदि पुरुप-परिग्रह' जाना तुमने ।
उसको दासी-तुल्य भूलकर माना तुमने ॥
तो समझो अंधेर मचाना ठाना तुमने ।
सत् शिव सुन्दरका न रूप पहिचाना तुमने ॥३२॥

नारी को धनरूप समझना अति अनर्थ है ।
यदि अनर्थ यह रहे सभ्यता आदि व्यर्थ है ॥
इस अनर्थ के कुफल चखे है तुमने अर्जुन ।
तड़प रहा है हृदय लगा है जीवन मे घुन ॥३॥

तुम लोगो मे अगर समझदारी यह आती ।
नर नारी मे यदि समानता आने पाती ।
तो अनर्थ की परम्परा कैसे दिखलाती ।
क्यो देवी द्रौपदी दावपर रक्खी जाती ॥३४॥

दुःशासन निर्लज्ज नीचता करता कैसे ।
भाभीकी भी लाज सभामे हरता कैसे ॥
मनुष्यत्व को छोड़ पाप-घट भरता कैसे ॥
भीष्म द्रोणका मनुष्यत्व भी मरता कैसे ॥३५॥

क्यो अधा धृतराष्ट्र हृदय का अन्धा होता ।
पुत्रवधू का लाज लुटाकर लज्जा खोता ॥
धर्मराज का धर्म लगाता घूँघट कैसे ।
पड़ता सब के मनुष्यत्व घटपर पट कैसे ॥३६॥

कैसा यह अंधेर अरे यह कैसी छलना ।
है पशुओ के तुल्य आज आर्यो मे ललना ॥

सातवाँ अध्याय

अर्जुन— (रोला)

माधव तुमने सर्व--जाति—समभाव सिखाकर ।
नरनारी के योग्य न्याय्य सम्बन्ध दिखाकर ॥
जाति—पाँति का भूत भगाया मेरे सिरसे ।
पक्षपात की जड़ उखाड़ दी तुमने फिरसे ॥१॥

नरनारी का पक्षपात अब क्यो आवेगा ।
कुल कुटुम्ब का मोह यहा क्यो दिखलावेगा ।
पनपेगा समभाव बनेगा हृदय विरागी ।
बनकर मै स्थितिप्रज्ञ बनूंगा सच्चा त्यागी ॥२॥

पक्षपात को छोड दिया है मैने माधव ।
नही रहा अब शेष किसी से मुझे मोह लव ॥
लेकिन कहदो पाप-पुण्य-समभाव करूँ क्या ।
समभावी बन कहो जगतके प्राण हरूँ क्या ॥३॥

सब धर्मो मे मुख्य अहिसा धर्म बताया ।
पर है हिंसा-कांड यहां पर सन्मुख आया ॥

है प्राणियो का नाश हिंसा कोष का यह अर्थ है ।
पर कार्य के सुविचार मे यह अर्थ होता व्यर्थ है ।
हिंसा अहिंसा को समझले मूलसे अब तू यहां
तब समझमे आजायगा हिंसा अहिंसा है कहाँ ॥१०॥

पाहिले समझले 'पाप हिंसा है' कहा यह किसलिये ।
हिंसा बताया धर्म क्यों ये भेद क्यो किसने किये ॥
उत्तर यही है शान्ति होती है अहिंसा से सदा ।
अधिकार का रक्षण तथा कल्याण होता सर्वदा ॥११॥

दुखमूल हिंसा है, अहिंसा शान्ति-सुखका मूल है ।
यह नियम है सच्चा मगर दिखता कभी प्रतिकूल है ।
दुख-दासता-कारण अहिंसा देखते है हम कभी ।
हिंसा भयकर भी दुखोका बोझ करती कम कभी ॥१२॥

अन्याय हो फिर भी अहिंसा को लिये बैठे रहो ।
तो पाप का ताडव मचेगा शांति क्यों होगी कहो ।
एकान्त हिंसा या अहिसा का न करना चाहिये ।
सन्नीति-रक्षण के लिये भूभार हरना चाहिये ॥१३॥

अन्यायियो को दड यदि मानव नहीं दे पायगा ।
तो न्याय की वह दुर्दशा होगी कि सब लुट जायगा ॥
होगी अहिंसा मृत्युसम कल्याण के प्रतिकूल ही ।
फिर धर्म क्यो होगा अहिंसा यदि बने सुखशूल ही ॥१४॥

यदि अल्प हिंसासे अधिक हिंसा टले सुख शान्ति हो ।
तो 'अल्प हिंसा है अहिंसा' क्यों यहां पर भ्रान्ति हो ॥

सुख शान्ति का जो मूल है वह ही अहिंसा धर्म है।
हो वह अहिंसा रूप हिंसारूप या सत्कर्म है ॥१५॥

स्वाभाविकी हिंसा

है पञ्चविध हिंसा प्रथम '**स्वाभाविकी**' यह नाम है।
जो है न हिंसारूपिणी जो प्रकृतिका परिणाम है ॥
अनिवार्य है, उसके लिये कोई इरादा है नहीं।
वह स्वास उच्छ्वासादि में होती सदा है सब कहीं ॥१६॥
जीवन मरण का कार्य प्राकृत रीतिसे जो चल रहा।
स्वाभाविकी हिंसा अवश्यम्भावि फल उसका कहा ॥
है प्राणिवध होता यहा होता नहीं पर पाप है।
इसमे किसी का दोष क्या यह प्रकृतिका अनुताप है ॥१७॥

आत्मरक्षिणी हिंसा

अन्याय अत्याचार अपने पर अगर कोई करे।
बन आततायी मनुज या पशु प्राण भी अपने हरे।
तो आत्मरक्षण के लिये संहार यदि अनिवार्य है।
तो है न हिंसा प्राणिवध मे प्राणिवध भी कार्य है ॥१८॥
औचित्य की सीमा रहे, इसमे नहीं फिर दोष है।
जो आत्मरक्षक है, रहे हिंसक, मगर निर्दोष है ॥
दोषी वही जिसने प्रथम अन्याय से समता हरी।
निजरक्षिणी है यह अहिंसारूप हिंसा दूसरी ॥१९॥

पररक्षिणी हिंसा

ससार का जो शत्रुसा है नीतिका नाशक तथा।
निर्दोष लोगो के लिये देता सदा नवनव व्यथा ॥

जो देशको या कुल कुटुंबी मित्र दल को त्रास दे।
निर्दोष का संहार कर जो नरकका आभास दे ॥२०॥
संहारमय जिसकी प्रकृति, जो शान्तिका भंजन करे।
हो रौद्र, जन-संहार मे जो हृदय का रजन करे॥
जो भार है संसार का है स्रोत अत्याचार का।
जो आततायी विश्वका वह पात्र है सहारका ॥२१॥
निज देश-रक्षण के लिये यदि युद्ध भी करने पड़े।
यदि आक्रमणकारी दलो के प्राण भी हरने पड़े॥
अधिकार-रक्षण के लिये यदि शत्रु वध अनिवार्य है।
तो है नहीं हिंसा यहां कर्तव्यका ही कार्य है ॥२२॥
यदि पापियो के पाप से अपनी न कोई हानि हो।
पर दूसरो की हानि हो बनता जगत दुखखानि हो।
इसके लिये हिंसा हुई वह जान ले करुणाभरी।
'**पररक्षिणी**' यह है अहिसारूप हिंसा तीसरी ॥२३॥

आरम्भजा-हिंसा

'**आरंभजा**' हिंसा यथा-सम्भव न हिंसागार है।
गृहकार्य मे उद्योग मे जो वृत्ति का आधार है॥
कृषिकार्य मे हिंसा यहाँ जिसमे न कोई दोष है।
जो अन्न देकर मांस-भक्षण रोकती, वह तोष है ॥२४॥
आरम्भजा हिंसा कही अनिवार्य जीवन के लिये।
इससे न हिंसारूप है यह प्राण है इसने दिये॥
आरम्भ यदि ये बन्द हो मानव वृथा मर जायगा।
फिर साधुता होगी कहाँ बस पाप ही भर जायगा ॥२५॥

अनिवार्य जो आरम्भ हो उसको समझ मत पाप तू ।
वह दूसरा करदे करे या कार्य अपनेआप तू ॥
है कार्य दोनो एकसे अन्तर समझना व्यर्थ है ।
निर्दोप बनने के लिये आलस्य एक अनर्थ है ॥२६॥

उद्योग सारे एक ही नर है न कर सकता कभी ।
जितना बने जो काम जब उतना करे हम सब तभी ॥
जो बन सके वह जग करे जो बन सके वह हम करे ।
हा, बन सके जितनी वहाँ तक प्राणि-हिंसा कम करे ॥२७॥

आरम्भ या उद्योग छोडा यह अहिंसा है नहीं ।
होता जहां पर भोग[३] है तज्जन्य हिंसा भी वहीं ॥
आरम्भका है त्याग अपरिग्रह बनाने के लिये ।
मितभोगता है विश्व की सेवा बजाने के लिये ॥२८॥

हॉ, जो अनावश्यक रहे उद्योग वह करना नहीं ।
या प्राणिवध को लक्ष्य करके पाप-घट भरना नहीं ॥
जितना बने उतना अहिंसा के लिये ही यत्न हो ।
हिंसा अहिंसा के लिये करके मनुज नररत्न हो ॥२९॥

संकल्पजा-हिंसा

संकल्पजा है पॉचवीं हिंसा यही है दुखकरी ।
निर्दोप का वध है जहा हिंसा वही है अघभरी ॥
दु:स्वार्थवश अपराध-हीनो को अगर कुछ दुख दिया ।
संकल्पजा हिंसा हुई जिसने जगत दुखमय किया ॥३०॥

मिलता अगर है अन्न तो है मास-भक्षण मे यही ।
हो यज्ञके भी नामपर पशु-वध, यही हिंसा कही ।

निर्दोष पशुके रक्तकी नदियाँ वहाना किसलिये ।
जब अन्न ईश्वरने दिया तब मांस खाना किसलिये ॥२१॥

सकल्पजा हिंसा किसी को भी न करना चाहिये ।
'सत्वेषु मैत्री' का हृदयमे भाव धरना चाहिये ।
अनिवार्य हिंसा हो कभी तो न्यून से भी न्यून हो ।
यह पाप का भी पाप है नाहक किसीका खून हो ॥२२॥

है पंचविध हिंसा मगर संकल्पजा ही त्याज्य है ।
सकल्पजा हिंसा जगत मे पापका साम्राज्य है ।
अवशिष्ट हिंसाएँ अहिंसा--तुल्य या क्षतव्य है ।
यो वाह्य हिंसा के विषय मे ये विविध मन्तव्य हैं ॥२३॥

हिंसा कही है पंचविध **षड्विध अहिंसा** की कथा ।
होती अहिंसा भी कभी हिंसा--जनक, देती व्यथा ॥
हिंसा अहिंसा है नही निर्णीत बाह्याचार से ।
निर्णीत होगी भावना फल आदि नाना द्वार से ॥२४॥

बंधुत्वजा अहिंसा

बन्धुत्वजा पहिली अहिंसा प्रेम की जो मूर्ति है ।
निःस्वार्थ है पर प्राणियो के स्वार्थ की परिपूर्ति है ।
जिससे हृदय की वृत्ति हो बन्धुत्वमय करुणावती ।
है विश्व--प्रेममयी वही सच्ची अहिंसा भगवती ॥२५॥

अशक्तिजा--अहिंसा

हिंसा हृदय मे है भरी पर शक्ति करने की नही ।
दिल जल रहा पर योग्यता है जलन हरनेकी नही ॥

यद्यपि अहिंसा-रूपिणी है पर नितान्त अशक्तिका ।
इससे न मिल सकता कभी परिचय अहिंसा-भक्तिका ॥३६॥

निरपेक्षिणी–अहिंसा

सम्पर्क मे आते नहीं संसारके प्राणी सभी ।
रहती उपेक्षा हो इसीसे हो नहीं हिंसा कभी ॥
समझो निरर्थक है अहिंसा है न संयमरूपिणी ।
है प्रेम की सद्भावना से शून्य वह **निरपेक्षिणी** ॥३७॥

कापटिकी–अहिंसा

होती अहिंसा घोर हिंसा--रूप **कापटिकी** यहां ।
बाहर अहिंसा है मगर भीतर भरी हिंसा जहां ॥
'मर जाय' इस दुर्भाव से होता जहां रक्षण नहीं ।
बनते वहां सैकड़ों छलपूर्ण कापटिकी वही ॥३८॥

स्वार्थजा--अहिंसा

यह स्वार्थजा भी है अहिंसा स्वार्थ जिसका मूल है ।
पर-प्राण-रक्षण भी जहां पर स्वार्थ के अनुकूल है ॥
जग पालत पशु आदि की करता इसीसे है दया ।
कैसे चलेगा काम यदि धनरूप यह पशु मर गया ॥३९॥

मोहजा--अहिंसा

होती अहिंसा मोहजा भी जो कि है स्वाभाविकी ।
घरघर भरी रहती यही जिस पर सभी दुनिया बिकी ।
है मनुजकी तो बात क्या पशुपक्षियों में भी रही ।
सन्तान-वत्सलता इसी की मूर्ति है अनुपम कही ॥४०॥

मित्रत्व मे भ्रातृत्व मे दाम्पत्य मे भी यह रहे ।
नाते यहां जितने बने सबमे यही धारा बहे ॥
जितना रहे अविवेक उतनी ही रहे दुखकारिणी ।
यह मोहजा व्यापक अहिंसा है विवेक--निवारिणी ॥४१॥

मन मे रहा अविवेक फिर इसके अगर पाले पड़े ।
कर्तव्य से चूके गिरे पथ मे न रह पाये खड़े ॥
जो है विवेकी मोहजा के पाश मे न समायगा ।
कर्तव्य मे तत्पर रहेगा कर्मयोग बतायगा ॥४२॥

सचमुच अहिंसा ही कसौटी है सकल सत्कर्म की ।
रहती अहिंसा है जहा सत्ता वही है धर्म की ॥
पर बाहिरी हिंसा अहिसा से न निर्णय कर कभी ।
होती अहिंसा बाह्य-हिंसा-रूप भी मत डर कभी ॥४३॥

कल्याण जिस मे विश्वका हो और हो नि.स्वार्थता ।
फिर हो अहिंसा या कि हिंसा पापका न वहा पता ॥
है मोहजा तेरी अहिंसा मूल मे न विवेक है ।
वह है नहीं सच्ची अहिंसा मोहका अतिरेक है ॥४४॥

तू छोड़ यह जड़ता तथा यह मोह माया छोड़ दे ।
बन जा विवेकी रूढ़ि का जंजाल सारा तोड़ दे ॥
निर्णय सभी सापेक्ष है अन्याय हरने के लिये ।
अब तू उठा गांडीव यह कर्तव्य करने के लिये ॥४५॥

आठवाँ अध्याय

अर्जुन— (हरिगीतिका)

कर्तव्य में कैसे करूँ जब बढ़ रहा अज्ञान है ।
ज्यों ज्यों सिखाते हो गुरो त्यों बिगड़ता ज्ञान है ॥
हिंसा अहिंसा में अगर व्यतिकर यहां हो जायगा ।
माधव, कहो संसार में तब न्याय क्या रह पायगा ॥१॥
हिंसा अहिंसा भी अगर सापेक्ष हैं तब धर्म क्या ।
निश्चित बता दो बात गुरुको न संशय है धर्म क्या ॥
हिंसा अहिंसा हो, अहिंसा हो अगर हिंसा यहां ।
सापेक्ष जब होगी अहिंसा सत्य तब होगा कहां ॥२॥
है सत्य ही निर्णय-निकष कर्तव्य की या धर्म की ।
जो सत्यसे निश्चित न हो फिर क्या कथा उस कर्मकी ॥
सापेक्षता का हो जहां साम्राज्य निर्णय क्या वहां ।
निर्णय नहीं तो सत्यकी आभा दिखा सकती कहां ॥३॥
है सत्य निश्चित एकसा होता न डावांडोल है ।
होता न डावांडोल जो जग में उसीका मोल है ॥
हिंसा रहे हिंसा अहिंसा भी अहिंसा सब कहीं ।
निरपेक्ष निश्चय हो जहां बस सत्य भी होता वहीं ॥४॥

श्रीकृष्ण— गीत १८

करके विचार तूने सचका पता न पाया ।
होती जहां अहिंसा सच भी वहीं समाया ॥ कर ॥५॥
कल्याणरूप ही हैं सब धर्म कर्म जगके ।
कल्याण का विरोधी है सत्यकी न छाया ॥ करके... ॥६॥
कल्याण-कारणों मे सापेक्षता भरी जब ।
तब क्यो न धर्म भी हो सापेक्ष रूप गाया ॥ करके. ॥७॥
सापेक्ष है अहिंसा सापेक्ष सत्य भी है ।
सापेक्ष सब जगत है निरपेक्ष भ्रम बनाया ॥ करके ॥८॥
मत मान तथ्यको ही सर्वत्र सत्यरूपी ।
होता असत्य भी वह सुखकर न जो कहाया ॥ करके. ॥९॥
समझा अतथ्य को क्यो हरदम असत्यरूपी ।
होता अतथ्य भी सच कल्याणकर बनाया ॥ करके ॥१०॥
कल्याण की अपेक्षा निर्णय सभी करेंगे ।
निरपेक्ष व्यर्थ ही है वह है असत्य माया ॥ करके ॥११॥

दोहा

जिस प्रकार सापेक्ष है परम अहिसा धर्म ।
उस प्रकार है सत्य भी समझ धर्म का मर्म ॥१२॥
तथ्य सत्य में भेद है सत्य करे कल्याण ।
तथ्य बताता वस्तु है हो कि न हो जन-त्राण ॥१३॥
अगर विश्वहित हो नहीं तो अपथ्य है तथ्य ।
विश्व-हितकर हो अगर तो अतथ्य भी पथ्य ॥१४॥

स्वार्थ रहे या जाय तथ्य का नाश न होने पावे ।
मुख से निकला वचन चित्र अन्तस्तल का बतलावे ॥२३॥

मन तन वाणी मे न विविधता हो न जरा भी माया।
हो अतथ्य का लेश नही यह परम--सत्य बतलाया ।
प्रथम भेद **विश्वास-प्रवर्धक** जिस पर जग चलता है।
है विश्वास-पिता अतिनिश्चल जो न कभी ढलता है ॥२४॥

शोधक तथ्य

प्रेमभाव से शुद्ध चित्त से पर के दोष दिखाना ।
'हो सुधार इसका' ऐसे ही भाव हृदय मे लाना ।
वाणी कोमल या कठोर हो पर न कठिन मन होवे ।
रहे पूर्ण वात्सल्य, हितैषी बन, सारा मल धोवे ॥२५॥

प्यारे जनका या समाज का यो संशोधन करना ।
पर मनमे अभिमान न लाना मान न पर का हरना ।
विनयी होकर दृढहृदयी जो परको सुपथ बताता ।
उसका तथ्य मधुर या कटु सब शोधक तथ्य कहाता ॥२६॥

पापोत्तेजक तथ्य

घटना तथ्य-पूर्ण हो लेकिन दुराचार फैलावे।
दिखलाती हो पाप-विजय दुष्पथ मे मन ललचावे ।
जैसे द्यत आदि पापो से बना अमुक धनवाला ।
तो यह तथ्य असत्य रूप है पड़ा पाप से पाला ॥२७॥

वर्तमानमे ये घटनाएँ तथ्य रूप पाती है ।
पर त्रैकालिक परम तथ्य की बाधक बन जाती है ।

इनको सत्य समझ कर मानव बनता स्वार्थी कामी ।
पापोत्तेजक तथ्य इसीसे हैं असत्य-अनुगामी ॥२८॥

निंदक तथ्य

बात ठीक है किन्तु हमारा आशय है पर-निंदा ।
अपनी शेखी और दूसरे को करना शर्मिंदा ।
गाली आदि कटुक वचनों के भीतर प्रेम न होवे ।
हो न सुधार भावना सच्ची, समता सीमा खोवे ॥२९॥
अविवेकी अति क्रोधी मानी स्वार्थी बनकर बकना ।
वाणी की सभ्यता खोकर नाना तरह सिसकना ॥
कितना भी हो तथ्य किन्तु वह है जगको दुखकारी ।
निंदक तथ्य इसीसे कहलाता असत्य-सहचारी ॥३०॥
हो वैज्ञानिक खोज या कि मनोरंजन बात अलग है ।
प्रिय अप्रिय हो शुद्ध ज्ञान से बनता सारा जग है ।
आज नहीं तो कल सुखदाता फल अच्छा दिखलाता ।
इसीलिये विज्ञान तथ्य के पथ में बढ़ता जाता ॥३१॥
वैज्ञानिक-विचारणाएँ जो तथ्य हमें बतलावें ।
उससे सत्य-पथ निर्मित कर उस पर जगत चलावें ।
पर नय पथ में तथ्य नाम से वस्तु न बाधा डाले ।
तथ्य सत्य का अनुचर होकर जगका श्रेय सँभाले ॥३२॥

अतथ्य के छः भेद—(दोहा)

है अतथ्य षड्विध कहा अन्तिम चारों सत्य ।
दोनों प्रथम असत्य हैं है जिन में दौर्गत्य ॥३३॥

वंचक निंदक युगल यह है असत्य भंडार ।
पर-पीडक झूठे वचन दोनो दुखद अपार ॥३४॥

पुण्योत्तेजक स्व पर का रक्षक और **विनोद** ।
है अतथ्यमय किन्तु ये रहे सत्यकी गोद ॥३५॥

वंचक अतथ्य

जहाँ वंचना जगत की नित झूठा व्यवहार ।
विश्वासो का घात हो फैला मायाचार ॥३६॥
स्वार्थ करे तांडव जहाँ ठगकर पर की हानि ।
है अतथ्य **वंचक** वहा परम पाप की खानि ॥३७॥

निंदक अतथ्य

तिरस्कार का भाव हो रहे क्रोध अभिमान ।
है अतथ्य **निंदक** जहां गाली आदि प्रदान ॥३८॥

पुण्योत्तेजक अतथ्य

नीति सिखावे जगत को ऐसे कथा-प्रसग ।
तथ्यहीन भी हो मगर कहे सत्य के अग ॥३९॥
इसी तरह भूवृत्त या स्वर्ग-नरक की बात ।
तथ्यहीन हो पर नही करे सत्य का घात ॥४०॥
वहीं सत्यका घात है जहां नीति का घात ।
नीति और समभाव की वर्धक सच्ची बात ॥४१॥
सत्पथ मे जो दृढ करे दूर करे दौर्गत्य ।
तथ्यहीन हो पर कहा पुण्योत्तेजक सत्य ॥४२॥

किन्तु करे विश्वास या श्रद्धा को जो चूर।
बुद्धि-असगत बात वह रहे सर्वदा दूर ॥४३॥
पुण्योत्तेजक सत्य में जितना होगा तथ्य।
उतना ही होगा अधिक वह जीवन को पथ्य ॥४४॥
पुण्योत्तेजक सत्य जो कहलाता है आज।
कल असत्य होता वही विकसित अगर समाज़ ॥४५॥
इसीलिये इस सत्य मे जाग्रत रहे विवेक।
किसी तरह होने न दे अतथ्य का अतिरेक ॥४६॥

स्वरक्षक अतथ्य

अपने पर करता अगर कोई अत्याचार।
डाकू लम्पट आदि यदि देते कष्ट अपार ॥४७॥
या कि युद्ध में वचना करता हो अरिपक्ष।
तो अतथ्य भी क्षम्य है निजरक्षण मे दक्ष ॥४८॥
किंतु विपक्षी से अधिक हो अपना अपराध।
फिर अतथ्य व्यवहार हो तो है पाप अगाध ॥४९॥
निज-रक्षण के नाम से अनुचित कथा-प्रसंग।
कभी क्षम्य होगे नहीं वे असत्य के अंग ॥५०॥
अपने न्याय्य रहस्य को यदि रखना हो गुप्त।
तो अतथ्य व्यवहार से सत्य न होता लुप्त ॥५१॥

पर-रक्षक अतथ्य

निज-रक्षक की तरह है पर-रक्षक का रूप।
नीति सदा सुखरूप है है अनीति दुखरूप ॥५२॥

आठवाँ अध्याय

जग पर अत्याचार हो उनको करने नष्ट ।
हो अतथ्य व्यवहार वह है न सत्य से भ्रष्ट ॥५३॥

विनोदी अतथ्य

वचकता मन मे न हो और न ईर्ष्याभाव ।
प्रेम भक्ति वात्सल्य हो हो न स्वार्थ का दाव ॥५४॥
प्रेम प्रकट हो और हो, प्राप्त सभी को मोद ।
तो अतथ्य भी सत्य है जहा विशुद्ध विनोद ॥५५॥

[ललित पद]

सत्यासत्य अतथ्य--तथ्यका भेद समझ ले भाई ।
पूर्ण सत्य अज्ञेय, ज्ञेय मे विचित्र अपेक्षा आई ।
जहां अहिंसा वही सत्य भी अपना सदन वनाता ।
जहा सत्य प्रभु हो विराजता वही अहिंसा माता ॥५६॥
जहां न्याय की रक्षा होती वही सत्य आता है ।
जहां सत्य है वही अहिंसा को मनुष्य पाता है ।
ये दोनो ही धर्म-सार है हैं घट घट के वासी ।
उन्हे समझ, कर्तव्य-पंथमे बढ़ चल छोड़ उदासी ॥५७॥
(३५०)

नवमाँ अध्याय

अर्जुन— दोहा

माधव क्या सापेक्ष है यह सारा जञ्जाल ।
ध्रुव भी है अध्रुव यहा विकट काल की चाल ॥१॥

गीत १९

जगकी कैसी अजब कहानी ।
सब चचल हैं पर इसकी चचलता किसने जानी ॥२॥
चचल अनल अनिल भी चचल चचल है थल पानी ।
रवि शशि तारागण भी चचल सब मे खींचातानी ॥
जगकी कैसी अजब कहानी ॥३॥

निबल सबल निर्धन चचल है चचल राजा रानी ।
वैभव की थिरता तो जग मे कौडी मोल बिकानी ॥
जगकी कैसी अजब कहानी ॥४॥

खाली आते खाली जाते कृपण धनेश्वर दानी ।
फिर भी खींचातानी दुनिया कैसी है दीवानी ॥
जगकी कैसी अजब कहानी ॥५॥

मिली अचचल वस्तु न कोई कण कण दुनिया छानी ।
फिर भी यह धोखे की टट्टी किस किसने पहिचानी ॥
जगकी कैसी अजब कहानी ॥६॥

रोला

मुझको है स्वीकार जगत चचल है सारा ।
आता जाना बहे यथा सरिता की धारा ॥
लेकिन धारा का न अगर हो अटल किनारा ।
तो धारा क्या बहे बहे जल मारा मारा ॥७॥

सह सकता हूँ अगर जगत चंचल है सारा ।
किन्तु अटल हो धर्म दिशा-सूचक ध्रुवतारा ।
सत्य अहिंसा रूप धर्म भी यदि चंचल है ।
अपरिग्रह शीलादि धर्म मे फिर क्या बल है ॥८॥

यदि ये जगदाधार धर्म भी अटल न होगे ।
तब सब जगमे पुण्यपाप भी सफल न होगे ।
चोरी या व्यभिचार करेगा मानव जब जब ।
कह देगा 'सापेक्ष धर्म यह पाप न' तब तब ॥९॥

तब पापी को भीति पाप की रह न सकेगी ।
बढ़ जावेगा पाप त्रिलोकी सह न सकेगी ॥
चोरो को सापेक्ष कहोगे माधव कैसे ।
व्यभिचारी का छद्म सहोगे माधव कैसे ॥१०॥

तब मन--चाह पाप जगत मे रम्य बनेगे ।
दुर्योधन के दुष्ट--चरित भी क्षम्य बनेगे ।
दु.शासन निर्दोष बनेगा गर्ज गर्ज कर ।
पुण्य दबेगा और पाप गर्जेगा घर घर ॥११॥

पुण्य पाप का भेद दिखाओ मार्ग सुझाओ ।
कर्तव्याकर्तव्य कसौटी कर दिखलाओ ॥
सत्य अहिंसा रहे रहें सब धर्म अचचल ।
निःसशय हो धर्म न्याय का बल ही हो वल ॥१२॥

श्रीकृष्ण— गीत २०

यह मोह कहा से आया ।
साफ साफ बाते थी मेरी तूने जाल बनाया ।
यह मोह कहा से आया ॥१३॥

सत्य अहिसा ब्रह्म अचचल चचल उसकी छाया ।
ब्रह्म अगम्य अगोचर भाई गोचर उसकी माया ॥
यह मोह कहा से आया ॥१४॥

उसी ब्रह्म की छाया से ही धर्म विविध बन आया ।
इसीलिये सापेक्ष रूप मे विविध धर्म बतलाया ॥
यह मोह कहा से आया ॥१५॥

होता जो सापेक्ष, नहीं वह सशय रूप-कहाया ।
समझ, अगम्य ब्रह्मने अपना गम्यरूप दिखलाया ॥
यह मोह कहा से आया ॥१६॥

[ललितपद]

जब हैं सत्य अहिंसा निश्चल सकल धर्म निश्चल है ।
शील अचौर्य असंग्रह आदिक इन दोनोंके दल हैं ॥
हिंसा और असत्य बिना चोरीका पाप न होता ।
इन दोनो के बिना जगत मे कोई ताप न होता ॥१७॥

चौर्य कार्य मे परधन--रूपी प्राण हरे जाते है ।
बिना असत्य वचन के बोले चोर न बन पाते है ॥
इसीलिये है चौर्यकार्य हिसा असत्य की छाया ।
तभी इसे हिंसा असत्यके अन्तर्गत बतलाया ॥१८॥

जिसने झूठ बोलना छोड़ा उसने चोरी छोड़ी ।
हिसा छोड़ चला जो कोई छोड़ी यह सिरफोड़ी ॥
मनमे दया बसी चोरीने रिश्तेदारी तोड़ी ।
कैसे रहे निगोड़ी जब है सत्य अहिसा जोड़ी ॥१९॥

दोहा

यों अचौर्य व्रत है कहा सत्य-अहिंसा-अंश ।
है अचौर्य्य के भ्रंश मे सत्य-अहिसा-भ्रंश ॥२०॥

त्यो अपरिग्रह भी कहा सत्य-अहिंसा-अंश ।
जहां परिग्रह है वहा सत्य-अहिसा-भ्रश ॥२१॥

सामाजिक सम्पत्ति के हिस्से के अनुसार ।
अगर मिली सम्पत्ति तो हुआ न पापाचार ॥२२॥

जो जनसेवा के लिये हो उपकरण--कलाप ।
उसका यदि संग्रह किया तो न परिग्रह पाप ॥२३॥

पर मालिक बनना नहीं मालिक सकल समाज ।
तू सेवक ही है सदा भले मिला हो ताज ॥२४॥

जो सेवकता भूल कर जोड़े बहुविध अर्थ ।
करता विविध अनर्थ वह उसका जीवन व्यर्थ ॥२५॥

धन--संग्रह कर मत कभी कर प्रदान या भोग।
किन्तु भोग सीमित रहे बसे न तन मे रोग ॥२६॥
सेवा देकर कर सदा सेवा का आदान।
धन लेकर सग्रह किया बनी पापकी खान ॥२७॥
अथवा बदला छोडकर ले अक्षय भंडार।
यश अनंत मिल जायगा होगा पुण्य अपार ॥२८॥
धन वितरण के ध्येय मे सग्रह है परिहार्य।
फिर भी जो सग्रह किया तो असत्य अनिवार्य ॥२९॥
जितना ही सग्रह हुआ उतनी पर की हानि।
कहा परिग्रह इसलिये हिंसामय दुख--खानि ॥३०॥
एक तरह का चौर्य है नरनारी--व्यभिचार।
हिंसा और असत्यमय है वह पापाचार ॥३१॥
फैले हैं संसार मे अगणित पापाचार।
हिंसा और असत्य ही हैं सब के आधार ॥३२॥
सबके निर्णय के लिये सच्चा शास्त्र विवेक।
मध्यम पथ पर चल सदा हो न कही अतिरेक ॥३३॥
केवल बाह्याचार मे, है न पुण्य या पाप।
पुण्य पाप मनमें बसा दिखता अपने आप ॥३४॥
वैभव में भी योग है यदि न अन्ध--अनुराग।
नीरज नीरज नीर मे करें नीर का त्याग ॥३५॥
लखोंकी सम्पत्ति हो फिर भी रहे न मोह।
तन तो मन्दिर में रहे मन मन्दर की खोह ॥३६॥

हो विभूति मय सदन तन, तनपर हो न-विभूति ।
मन पर चढी विभूति हो तो है योग--प्रभूति ॥३७॥

राख रमाई क्या हुआ मनपर चढ़ी न राख ।
तन पर रहा न एक पर मनपर सौ सौ लाख ॥३८॥

देह दिगंबर हो गई मनपर मनभर सूत ।
बुनकर बन बैठा वहां मोह पाप का दूत ॥३९॥

माला लेकर हाथ में बन बन छानी धूल ।
पर मन भवनों मे रहा माला के मणि भूल ॥४०॥

तनका तो आसन जमा मन के कटे न पाँख ।
बगुला तो ध्यानी बना पर मछली पर आँख ॥४१॥

रहे परिग्रह या रहे चोरी या व्यभिचार ।
बाहर ही को देखकर मत निकाल कुछ सार ॥४२॥

घर छोड़ा वनवन फिरा कर घिनावनी देह ।
मृगनयनी मनमे मगर मन मनोज का गेह ॥४३॥

पलक मीच करने चला मूढ़ योग की पूर्त्ति ।
चपलासी चमकी मगर मृगनयनी की मूर्त्ति ॥४४॥

नभ मे भी छिपछिप दिखे मन—मोहिनी शरीर ।
मानों दमके दामिनी अन्धकार को चीर ॥४५॥

बहुत तपस्याएँ हुईं कसकर बँधा लँगोट ।
सह न सका पर एक भी मकर-ध्वज की चोट ॥४६॥

जब तक मन वश में नहीं तबतक कैसा त्याग ।
भीतर ही भीतर जले विकट अवा की आग ॥४७॥

अध्याय दसवाँ
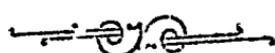
अर्जुन— गीत २१

तुम्हारा अद्भुत अन्तर्ज्ञान ।
जगत है देख देख हैरान ॥

चक्र सुदर्शन छोड़ा तुमने आये खाली हाथ ।
ज्ञान चक्रसे बना दिया पर मुझको निर्भय नाथ ॥
किया कायरता का अवसान ।
तुम्हारा अद्भुत अन्तर्ज्ञान ॥१॥

सत्यासत्य अहिंसा हिंसा के बतलाये भेद ।
ऐसा रस दे दिया निचोड़े मानों सारे वेद ॥
बनाया धर्म विवेक-प्रधान ।
तुम्हारा अद्भुत अन्तर्ज्ञान ॥२॥

उलझी में उलझी भी सुलझी करदो करुणागार ।
जीवन नैया तुम्हीं खिवैया पकड़ चलो पतवार ॥
पार पहुंचादो जीवन यान ।
तुम्हारा अद्भुत अन्तर्ज्ञान ॥३॥

दोहा

संशय यद्यपि मर गया श्रद्धा हुई अनन्त ।
तो भी हो पाया नहीं जिज्ञासा का अन्त ॥४॥
समझी है सापेक्षता समझा है आचार ।
सत्य अहिंसा ब्रह्म है हैं ये जगदाधार ॥५॥
उनके निर्णय के लिये तुमने कहा विवेक ।
पर विवेक कैसे करूं हो न कहीं अतिरेक ॥६॥
एक दूसरे मे जहा दीखे मुझे विरोध ।
हो कैसे निर्णय वहा परम सत्य की शोध ॥७॥
कहो निकष वह कौन है बने विवेकाधार ।
जिसको पाकर मै करू संशय- सागर--पार ॥८॥

श्रीकृष्ण—

होते जितने कार्य है वे सब सुख के अर्थ ।
जिसमे मिल सकता न सुख, कहलाता वह व्यर्थ ॥९॥
करता है ससार यह निशिदिन सुख की खोज ।
होता है सुखके मिले विकसित वदन-सरोज ॥१०॥
धन विद्या सौन्दर्य बल नाम और अधिकार ।
कुल कुटुम्ब सुख के लिये ढूंढ़ रहा संसार ॥११॥
चैन नहीं है चैन बिन ज्यों ही हुआ प्रभात ।
त्यों ही भौरा सा भ्रमें जब तक हुई न रात ॥१२॥
जग चाहे सुखके लिये मज़ा मौज़ आराम ।
और उसी आराम को जग का बने गुलाम ॥१३॥

सुख की आशा मे चले टेढ़ी टेढ़ी गैल ।
पराधीन घूमा करे ज्यो कोल्हू का बैल ॥१४॥

घर कुटुम्ब को छोड़कर चल जंगल की राह ।
त्यागी बनता है जगत है बस सुख की चाह ॥१५॥

इसीलिये धन धर्म है इसीलिये है स्वर्ग ।
इसीलिये ही काम है इसीलिये अपवर्ग ॥१६॥

है सुख पानेके लिये देवो का गुणगान ।
इसीलिये जप तप बना इसीलिये भगवान ॥१७॥

आते है सुखके लिये तीर्थंकर अवतार ।
दुनिया का उद्धार कर करते निज उद्धार ॥१८॥

जग सुखपावे या नही किन्तु वही है ध्येय ।
अप्रमेय संसार मे सुख--पथ परम प्रमेय ॥१९॥

सुख-पथ का प्रत्यक्ष कर कहलाते सर्वज्ञ ।
सुख-पथ यदि जाना नहीं तो पंडित भी अज्ञ ॥२०॥

कहने का यह सार है सुख जीवन का सार ।
तार तार मे रम रही सुख की चाह अपार ॥२१॥

जिससे जगको सुख मिले वही कहा है धर्म ।
जो सुखकर दुखहर तथा वही धर्म का मर्म ॥२२॥

परम निकष कर्तव्य की सुख-वर्धन है एक ।
सुखवर्धन कर विश्व का रखकर पूर्ण विवेक ॥२३॥

अर्जुन—

यदि सुख-वर्धन ही निकष सुख—वर्धन ही ध्येय ।
सुख-वर्धन ही सार हो सुख-वर्धन ही ज्ञेय ॥२४॥

तव तो जगमे स्वार्थ का होगा ताण्डव नृत्य ।
मानवता मर जायगी बनी स्वार्थ की भृत्य ॥२५॥

चोरी करके चोर जन व्यभिचारी व्यभिचार ।
वोलेंगे निर्भय बने 'पाया सुख का सार' ॥२६॥

हिंसक जन भी स्वार्थवश करके हिंसा कार्य ।
कह देंगे 'यह धर्म है है सुखार्थ अनिवार्य' ॥२७॥

झूठ वोलकर भी जगत करके मायाचार ।
वोलेगा 'यह धर्म है हम को सुख—दातार' ॥२८॥

जग मे सुख के नामपर होते जितने पाप ।
सभी धर्म कहालायेंगे ठग अपने को आप ॥२९॥

होगा कैसे जगत मे सुख—वर्धन का कार्य ।
है सुख-वर्धन के लिये दुख-वर्धन अनिवार्य ॥३०॥

सुलझ सुलझ कर उलझती गुत्थी दोनो ओर ।
ऐसी सुलझाओ सखे उलझे कभी न डोर ॥३१॥

श्रीकृष्ण—

तूने मेरी वात का किया न पूर्ण विचार ।
इसीलिये तू वन गया प्रबल संशयागार ॥३२॥

यदि अणुभर सुख पा गया पर दुख मेरु समान ।
तो सुख-वर्धन क्या हुआ लाभ बना नुकसान ॥२३॥

मुझको अणुभर सुख मिला जगको मनभर कष्ट ।
तो सुखवर्धन क्या हुआ शान्ति हुई सब नष्ट ॥२४॥

हिंसा चोरी झूठ हो अथवा हो व्यभिचार ।
सुख से दुख अगणित-गुणा देता पापाचार ॥२५॥

इस सामूहिक दृष्टि से देख पाप के कार्य ।
है सुख-वर्धन के लिये पाप--त्याग अनिवार्य ॥२६॥

अपने में ही भूल मत रख सब जग पर दृष्टि ।
फिर यदि सुख-वर्धन हुआ हुई धर्म की सृष्टि ॥२७॥

अर्जुन—

माधव जब सुख ध्येय तब पर का कौन विचार ।
आप भला तो जग भला भले मरे संसार ॥२८॥

पर-हित पर क्यों दृष्टि हो अपने हित को भूल ।
वो देखना चाहिये जो अपने अनुकूल ॥२९॥

श्रीकृष्ण— गीत २२

प्राण कर दे पर-लोक-प्रयाण ।
जगत-हित मे अपना कल्याण ॥४१॥

अपना अपना स्वार्थ तक सब भूले पर का स्वार्थ ।
अपना डूबे पर का डूबे सकल स्वार्थ परमार्थ ॥
अकेले तडपे सबके प्राण ।
जगत-हित में अपना कल्याण ॥४२॥

सब का स्वार्थ एक है जग मे· ब्रह्म भरा है एक ।
उसने पाई मुक्ति जिसे हो एक-अनेक-विवेक ॥
यही सब गाते वेद पुराण ।
जगत-हित मे अपना कल्याण ॥४३॥

जितना जग मे कामसुख वह परके आधीन ।
क्षण भी पर को भूल मत बन मत प्रेम-विहीन ॥४४॥
क्या देना है जगत को यदि है यही विचार ।
तो लेना भी छोड़ दे मत बन भू का भार ॥४५॥

अर्जुन—

लेना देना छोड कर क्यो न लगाऊ ध्यान ।
क्यो जग की चिंता करू चिन्ता चिता समान ॥४६॥

श्रीकृष्ण—

यदि कुछ भी लेना नहीं, मत ले, पर कर दान ।
लिया आजतक बहुत ऋण कर उसका अवसान ॥४७॥
लिया नहीं लेता नही और न लेगा कार्य ।
ऐसा मनुज अशक्य है लेना है अनिवार्य ॥४८॥

अर्जुन—

जिसने ले उसके लिये करदे हम प्रतिदान।
व्यर्थ मरे जगके लिये यह तो है अज्ञान ॥४९॥

श्रीकृष्ण—

जग भी यदि यो सोचले तुझको देगा कौन।
घर घर लेने जायगा पर पायेगा मौन ॥५०॥
प्रथम दान का विश्व मे यदि हो नहीं प्रचार।
फले स्वार्थ भी किस जगह जब न मिले आधार ॥५१॥
लिया किसी से भी रहे कर जगको प्रतिदान।
गौण व्यक्ति सम्बन्ध है रख समाज का ध्यान ॥५२॥
मात पिता से ऋण लिया है उनका उपकार।
संतति के प्रतिदान से होता प्रत्युपकार ॥॥५३॥
सब से तू आदान कर सब ही को कर दान।
होता प्राणि-समाज मे सब का पर्यवसान ॥५४॥
भेदभाव को छोड़कर देख सभी का स्वार्थ।
जो कुछ सब का स्वार्थ है तेरा है परमार्थ ॥५५॥
कम से कम ले किन्तु कर अधिक-अधिक प्रतिदान।
इसी साधुता मे बसे, मुक्ति, भुक्ति, भगवान ॥५६॥
जहां साधुता है वहा होता सब का त्राण।
सब जग का कल्याण है तेरा भी कल्याण ॥५७॥
सब जगको सुखमय बना हट जायेगे पाप।
यही, कसौटी धर्म की सत्कर्तव्य-कलाप ॥५८॥

सुख भी हो यदि पाप से तो सुख पाता एक।
किन्तु पापके ताप से जलते जीव अनेक ॥६९॥

सुखी बने जग मे बहुत दुखी न्यून से न्यून।
कॉटो के दुख से अधिक सुख दे सके प्रसून ॥७०॥

ऐसा ही कर्तव्य कर हो बहुजन को इष्ट।
इसकी चिन्ता कर नही पापी हो यदि क्लिष्ट ॥७१॥

अर्जुन—

बहुजन का यदि हित करूं तो भी है अन्धेर।
विजय पाप ही पायगा पापी जग मे ढेर ॥७२॥

रावण का दल था बहुत यद्यपि था दुष्कर्म।
होती यदि उसकी विजय तो क्या होता धर्म ॥७३॥

दुर्योधन--दल है बहुत पाण्डव--दल है अल्प।
दुर्योधन की जीत मे क्या है पुण्य अनल्प ॥७४॥

श्रीकृष्ण—

एक जगह ही देख मत चारो ओर निहार।
अपरिमेय ससार है, अपनी दृष्टि पसार ॥७५॥

वर्तमान ही देख मत जो क्षण है दो चार।
कर तू निर्णय के लिये भूत–भविष्य–विचार ॥७६॥

सार्वत्रिक पर डाल तू सार्वकालिकी दृष्टि।
सत्य तुझे मिल जायगा होगी निर्णय-सृष्टि ॥७७।

रावण की यदि जीत हो रामचन्द्र की हार।
तो घर घर रावण बने डूब जाय संसार ॥७८॥

होती रावण की विजय तो घर–घर व्यभिचार ।
करता ताण्डव रात दिन मिट जाते घरवार ॥७९॥
परिमित रावण-दल मरा हुआ पाप का अन्त ।
अगणित सीताएँ वचीं फूला पुण्य--वसन्त ॥८०॥
कौरव-दल यद्यपि वहुत पर उसकी जो नीति ।
वह यदि जीते जगत में फैले घर घर भीति ॥८१॥
कौरव से लाखो गुणा जनता को हो कष्ट ।
घर घर हाहाकार हो विश्व–शान्ति हो नष्ट ॥८२॥
कितनी द्रौपदियाँ पिसे खिंचे हजारों चीर ।
भाई को भाई न दे चुल्लूभर भी नीर ॥८३॥
स्वार्थी नीच असभ्य--जन भर डाले संसार ।
घर घर में बैठे यहा पशुता पैर पसार ॥८४॥
पाण्डव की या राम की जय से जगदुद्धार ।
रक्षण हो ससार का पापो का संहार ॥८५॥
बचे सभ्यता का सदन साफ रहे घर द्वार ।
पापो का कचरा हटे स्वच्छ बने संसार ॥८६॥
रामविजय से हो सका अधिको का कल्याण ।
सीताजी के त्राण मे था नारीका त्राण ॥८७॥
सीताजी के त्राण से बचा अर्ध-संसार ।
रावण के संहार से हुआ पाप–संहार ॥८८॥
दम्पति–धर्म रहा वहां रहा अकंटक प्यार ।
सब नाते फूले फले हुए मंगलाचार ॥८९॥

पाण्डव—दल की विजय मे है नारी-सन्मान ।
नारी के सन्मान मे पशुता का अवसान ॥९०॥
पुत्र-मोह-तांडव मिटे सज्जन ठगा न जाय ।
धर्मराज की जीत से विजयवन्त हो न्याय ॥९१॥
वर्तमान ही देख मत भूत--भविष्य--विचार ।
फिर अपना कर्तव्य कर कर सुखमय संसार ॥९२॥

[हरिगीतिका]

कर्तव्य-निर्णय की निकष कसले तुझे जो मिल गई ।
श्रद्धा सुरक्षित कर यहां संदेह से जो हिल गई ॥
श्रद्धालु ज्ञानी दृढ़ मनस्वी बन, न बन पर क्लीव तू ।
कर्तव्य-पथ आगे पड़ा है चल उठा गांडीव तू ॥९३॥
[४९९]

ग्यारहवाँ अध्याय

अर्जुन- (ललितपद)

माधव जो कर्तव्य--कसौटी तुमने मुझे बताई।
साथ साथ सदसद्विवेक की महिमा तुमने गाई ॥
यह अमूल्य सन्देश तुम्हारा पंडित--जनको प्यारा।
प्यासे को पीयूष पिलाया ज्यो मरु का जलधारा ॥१॥
भरता पेट नहीं भरता मन 'जितना पीता जाऊ--
उतना और मिले' मन कहता जीवनभर न अघाऊ ॥
तृष्णातुर बोलो तुम मुझको अथवा मूर्ख बताओ।
पर मेरी प्रार्थना यही है अमृत पिलाते जाओ ॥२॥
कर्तव्याकर्तव्य--कसौटी कसकर मुझे बताई।
सुख को ध्येय बताया तुमने सुख की महिमा गाई ॥
पर बोलो सुख की परिभाषा कैसे उस को पाऊ।
दु:ख-कण्टकाकीर्ण जगत मे कैसे मार्ग बनाऊ ॥३॥
सुख भीतर की वस्तु कहूँ या बाह्य जगत की माया ॥
दोनो सुख के रूप कौन तब उपादेय बतलाया ॥
क्या जीवन का अर्थ किसे पुरुषार्थ कहूं बतलाओ।
क्या सुख ही पुरुषार्थ कहा है ठीक ठीक समझाओ ॥४॥

ग्यारहवाँ अध्याय

श्रीकृष्ण—

अर्जुन, मै कह चुका जगतका परम ध्येय सुख पाना ।
पर को दुखित न होने देना आप सुखी बन जाना ॥
सुख मनकी अनुकूल वेदना प्राणिमात्र को प्यारी ।
दुख मनकी प्रतिकूल वेदना जीवन की अँधियारी ॥५॥

दुख सुख बाहर की न वस्तु है, है वह मनकी माया ।
माया का रहस्य पहचाना सुख दुख वश मे आया ॥
सुखके साधन रहे जीव फिर भी न सुखी हो पाता ।
तूल-तल्प पर पड़ा पड़ा भी जगकर रात विताता ॥६॥

नहीं भूल पर बाह्य जगत को सुख साधन न भुला तू ।
और अनावश्यक कष्टो को इच्छा से न बुला तू ॥
जग पर अत्याचार न करके सुख के साधन पाले ।
जहां न पा सकता सुख-साधन वहां मोक्ष अपनाले ॥७॥

दोहा

काम मोक्ष पुरुपार्थ है सारे सुख के मूल ।
दोनो के संयोग से फूले सुख के फूल ॥८॥
पुरुषार्थो मे मुख्य ये सब के अंतिम ध्येय ।
अप्रमेय संसार में ये है परम प्रमेय ॥९॥

काम मोक्ष सुख-मूल है, धर्म मोक्ष का मूल ।
अर्थ काम का मूल है चारो है अनुकूल ॥१०॥
इन्द्रिय-सुख है काम-सुख भोग और उपभोग ।
परम अतीन्द्रिय मोक्ष सुख पूर्ण शुद्ध मन-योग ॥११॥

मोक्ष न आया हाथ मे पाया केवल काम।
प्यास बढ़ी आतुर बना मिल न सका आराम ॥१२॥
तृप्ति न केवल काम से बुझे न पूरी प्यास।
पूर्ण तृप्ति है मोक्ष से हटते सारे त्रास ॥१३॥
आशा-पाश अनन्त है तोड न सकता काम।
पाश तोडना मोक्ष है सुख स्वतन्त्रता-धाम ॥१४॥
कर प्रयत्न जिससे रहे काम मोक्ष का साथ।
जीवन का साफल्य तब होगा तेरे हाथ ॥१५॥

अर्जुन--

माधव मोक्ष यहा कहा वह अत्यन्त परोक्ष।
जबतक यह जीवन रहे तबतक कैसा मोक्ष ॥१६॥
जीवन छूटे मोक्ष है जीवन रहते काम।
तब जीवन कैसे बने काम मोक्ष का धाम ॥१७॥
एक हाथ मे मोक्ष हो एक हाथ मे काम।
है अतथ्य यह कल्पना है यद्यपि अभिराम ॥१८॥
दो ऐसा सदेश तुम बने पूर्ण व्यवहार्य।
केवल कवि की कल्पना पूरा करे न कार्य ॥१९॥

श्रीकृष्ण--

अर्जुन तूने मोक्ष का समझ न पाया सार।
समझ रहा परलोक मे बना मोक्ष-दर्बार, ॥२०॥
पर यह तेरी कल्पना है बस मनका भार।
टूट यहां मिल जायगा तुझे मोक्ष का द्वार ॥२१॥

ग्यारहवाँ अध्याय

गीत २३

समझ मत दूर मोक्ष का द्वार । यहीं है मोक्ष और संसार ॥

दुःख और सुख मन की माया ।
मनने ही ससार बसाया ॥
मन को जीता दुनिया जीती हुआ दुखोदधि पार ।
समझ मत दूर मोक्ष का द्वार । यहीं है मोक्ष और ससार ॥२२॥

विपदाएँ यदि सिर पर आवे ।
गर्ज गर्ज कर हमे डरावे ।
उन्हें देखकर मन प्रसन्न कर जैसे मिला शिकार ।
समझ मत दूर मोक्ष का द्वार । यही है मोक्ष और संसार ॥२३॥

लुब्ध बनावे अगर प्रलोभन ।
फिर भी हो न सके चंचल मन ।
दुखके कारण दूर हुए तब हुई पाप की हार ।
समझ मत दूर मोक्ष का द्वार । यही है मोक्ष और ससार ॥२४॥

जिनने विपत्प्रलोभन जीते ।
वे ही परम सुखामृत पीते ।
उनका सुख उनके हाथो मे यही मोक्ष का सार ।
समझ मत दूर मोक्ष का द्वार । यही है मोक्ष और ससार ॥२५॥

मरने पर पुरुषार्थ भला क्या ।
मुर्दे की शृंगार कला क्या ॥
मोक्ष परम पुरुषार्थ यहीं है कर्म—योग—आधार ॥
समझ मत दूर मोक्ष का द्वार । यही है मोक्ष और संसार ॥२६॥

है एक एक से आत्मा की न भलाई ।
पुरुषार्थ सभी तेरे हाथो मे भाई ॥३१॥
कोई धर्मी बन जीवन बोझ बनाता ।
कोई है अर्थ–पिशाच लूटता खाता ।
कोई कामुकता मे ही जन्म गमाता ।
पर इनमे कोई सुखका पता न पाता ॥
दुख बनता पर्वततुल्य और सुख राई ।
पुरुषार्थ सभी तेरे हाथो मे भाई ॥३२॥
कोई पुरुषार्थों का न रूप भी जाने ।
कोई जाने तो तत्त्व नही पहिचाने ।
कोई पहिचाने किन्तु न मनमे ठाने ।
कोई ठाने तो फिरें बने दीवाने ।
आलस्य और उन्माद दिया दिखलाई ।
पुरुषार्थ सभी तेरे हाथो मे भाई ॥३३॥
यदि मोक्ष–तत्त्व का रूप न निर्मल देखा ।
धर्मार्थ काम का मिलित नही दल देखा ।
नकली पुरुषार्थों का न अगर छल देखा ।
सारे भेदो का यदि न फलाफल देखा ।
तो फिर क्या देखा करली कौन कमाई ।
पुरुषार्थ सभी तेरे हाथो मे भाई ॥३४॥

अर्जुन—

माधव मोक्ष यही मिला पूर्ण हुए सब काम ।
काम अर्थ फिर किसलिये, छोड़ूँ इनका नाम ॥३५॥

ग्यारहवाँ अध्याय

साधन पाये काम के फैल गया संतोष।
अर्थ अनर्थ न बन सका दूर हुए सब दोप ॥४६॥
धर्म प्रथम पुरुषार्थ है पुरुषार्थों का मूल।
इसके बिना न हो सके अर्थ-काम फल-फूल ॥४७॥
मोक्ष महल की नीव यह थोडी भी हिल जाय।
बजे ईट से ईट सब मिट्टी मे मिल जाय ॥४८॥

अर्थकाम

अर्थ काम परिमित रहे दोनो से कल्याण।
अतिमय यदि दोनो हुए समझो निकले प्राण ॥४९॥

अर्थ

मित भी अर्थ न हो अगर तो हो अमित अनर्थ।
अर्थ बिना जीवन नहीं अर्थ बिना सब व्यर्थ ॥५०॥
भिक्षा माँगो श्रम करो बनो जगत के दास।
अन्न बराबर चाहिये कब तक हो उपवास ॥५१॥
खाना पीना बैठना अर्थ सभी का मूल।
ये न रहे कब तक रहे काम मोक्ष अनुकूल ॥५२।
काम मोक्ष प्रतिकूल जब तब दुखमय संसार।
फिर जीवन हो किसलिये वसुन्धरा का भार ॥५३॥
गृही रहो या मुनि रहो तुम्हे चाहिये अर्थ।
किसी रूप में क्यो न हो अर्थ नही है व्यर्थ ॥५४॥

काम

काम न जीवन मे रहा तो जीवन बेकाम।
फूलीफली न वल्लरी व्यर्थ हुई बदनाम ॥५५॥

सात्त्विक काम

पर को दुःख न दे कभी कर न नीति का भंग।
इतने भोग न भोग तू बिगड़े तेरा अंग ॥६७॥

जिससे फट जावे हृदय ऐसा कर न विनोद।
कर ऐसा ही हास्य तू छाये मन मन मोद ॥६८॥
लूट कीर्ति की कर नहीं चल मत खोटी राह।
जितना दे उससे अधिक रख न कीर्त्ति की चाह ॥६९॥

अन्न पान परिजन शयन वस्त्र धरा धन धाम।
स्वपरविनाशक हो नहीं है यह सात्त्विक काम ॥७०॥

राजस काम

लोकनीति रक्षित रहे रक्षित रहे शरीर।
पर न जगत का ध्यान हो कैसी पर की पीर ॥७१॥

रहे अन्धस्वार्थी सदा लूटे झूठा नाम।
पर को पीड़ा हो जहाँ वह है राजस काम ॥७२॥

तामस काम

तामस काम जघन्य है प्राण-विनाशक पाश।
स्वास्थ्यनाश धननाश है कुल कुटुम्ब का नाश ॥७३

निपट क्रूरता है वहां विकट मोह का राज्य।
हम भोगे जाते जहां वह तामस-साम्राज्य ॥७४॥

तामस राजस छोड़ कर भोग सत्त्वमय काम।
साथ मोक्ष लेकर सदा बनजा तू सुखधाम ॥७५॥

बारहवाँ अध्याय

अर्जुन---

[हरिगीतिका]

माधव, दयाकर सार तुमने सर्व धर्मों का कहा।
सुखका बताया मार्ग तुमने फिर भला क्या बच रहा।
फिर भी न जाने हो रहा है हृदय मे यह खेद क्यो।
'सब धर्म सुख-पथ-रूप है फिर है सभी में भेद क्यो॥१॥

कोई अहिंसा का प्रचारक है दया अवतार सा।
कोई बना हिंसा-विधायक क्रूर भू का भार सा।
कोई निवृत्ति लिये रहे बन को बनाता धाम है।
कोई प्रवृत्ति लिये रहे करता सदा सब काम है॥२॥

कोई न माने मूर्त्तियाँ केवल बताता ज्ञान है।
कोई बताता मूर्तियों मे ही बसा भगवान है।
कोई यहां है कह रहा सब वर्ण--आश्रम व्यर्थ हैं।
कोई समझता वर्ण आश्रम के बिना हम व्यर्थ है॥३॥

दोहा

(हिंसा--अहिंसा)

धर्म अहिंसा रूप है गर्हित हिंसा कार्य ।
है विधेय हिंसा वही जहां रहे अनिवार्य ॥१०॥

मैंने बतलाये तुझे हिंसा के बहु भेद ।
उन पर पूर्ण विचार कर मिट जायेगा खेद ॥११॥

समझ अहिंसा है वहा जहां हृदय हो शुद्ध ।
कण भर हिंसा क्षम्य है मन भर हो यदि,रुद्ध ॥१२॥

सर्वनाश होता जहां वहां अर्ध कर दान ।
दुनिया यह बाज़ार है देख नफ़ा नुकसान ॥१३॥

नर-बलि होती है जहां पशुवध वहा विधेय ।
क्रम से पशुवध रोकना यहीं वेद का ध्येय ॥१४॥

नित्य जहां था गूँजता 'मार मार फिर मार' ।
वहा रहे हिंसार्थ बस केवल तिथि त्योहार ॥१५॥

उतना धर्म यहा हुआ जितना हिंसा-रोध ।
धीरे धीरे पा रहा मनुज अहिंसा-बोध ॥१६॥

नित्य न हिंसाकांड हो इसीलिये है यज्ञ ।
पशु-यज्ञो को छोड़कर करे यज्ञ आत्मज्ञ ॥१७॥

पशु-यज्ञ

वहीं सत्य पशु-यज्ञ है जहां सभ्यतोद्धार ।
मानवता की अग्नि मे पशुता का संहार ॥१८॥

इन्द्रिय-यज्ञ

[illegible] वासना नष्ट कर बने विषय-मर्मज्ञ ।
[illegible] रूपी अग्नि में है यह इन्द्रिय-यज्ञ ॥१९॥

कर्म-यज्ञ

फल की आशा का किया कर्म-कुंड में होम ।
कर्मयज्ञ यह हो गया तम में ज्योतिष्टोम ॥२०॥

धन-यज्ञ

जन-समाज के कुंड में धन का आहुति दान ।
[illegible] जिसमें [illegible] है धनयज्ञ महान ॥२१॥

श्रम यज्ञ

तन के मन के वचन के श्रम का करना दान ।
[illegible] न स्वार्थ की [illegible] है श्रमयज्ञ महान ॥२२॥

मानयज्ञ

[illegible] कुंड में कर दिया अहंकार का होम ।
मानयज्ञ में मन गया पिघल जैसे मोम ॥२३॥

तृष्णायज्ञ

विद्यायज्ञ

दग्ध जहां हो मूढ़ता वह है **विद्या यज्ञ** ।
ज्ञान कुंड मे होम हो रहे न कोई अज्ञ ॥२६॥

औषधयज्ञ

उचित चिकित्सा से किया रोगो का अवसान ।
सामूहिक उपकार यह **औषध यज्ञ** महान ॥२७॥

प्राण-यज्ञ

जनता के हित के लिये करना जीवन दान ।
प्राणयज्ञ यह विश्व का करता है उत्थान ॥२८॥

कीर्त्तियज्ञ

नाम रहे या जाय पर हो समाज-उद्धार ।
कीर्त्तियज्ञ यह विश्व में अनुपम त्यागागार ॥२९॥

ब्रह्मयज्ञ

जग हित रूपी ब्रह्म मे किया व्यक्ति--हित लीन ।
यज्ञ-शिरोमणि है यही **ब्रह्मयज्ञ** स्वाधीन ॥३०॥

अगणित इनके भेद है अगणित इनके रूप ।
यदि न यज्ञ हो विश्व में तो घर घर दुखकूप ॥३१॥

अगर न हम पर के लिये करे स्वार्थ-बलिदान ।
मिट जाये सब जगत का पल मे नाम-निशान ॥३२॥

यज्ञ परम आधार है यज्ञ परम कल्याण ।
यज्ञ न हो संसार मे तो न किसी का त्राण ॥३३॥

देश काल के भेद से हैं जो नाना भेद ।
इनमें है न विरोध कुछ है न मत्त-विच्छेद ॥४४॥
कभी प्रवृत्ति प्रधान है कभी निवृत्ति प्रधान ।
अवसर के अनुसार हैं दोनों सुख सामान ॥४५॥
सब प्रवृत्तिमय धर्म हैं सब निवृत्तिमय धर्म ।
अनिवार्य कोई नहीं सब में हैं सत्कर्म ॥४६॥

मूर्त्ति अमूर्त्ति

मूर्त्ति अमूर्त्ति विरोध क्या दोनों एक समान ।
मूर्त्ति पूजता कौन है सब पूजें भगवान ॥४७॥
उनको मूर्त्तियाँ व्यर्थ हैं जिनने पाया ज्ञान ।
देखें अन्तर्दृष्टि से अणु अणु में भगवान ॥४८॥
मित्र शत्रु के चित्र भी जिनको एक समान ।
अणु भर क्षुब्ध न कर सकें जिनको ध्यान निशान ॥४९॥
पुरा हो या तीर्थ हो जिनके हृदय न भेद ।
मन्दिर और मसान का जिनको होय न भेद ॥५०॥
सब जिनके वश में हुआ छूटा जगजंजाल ।

मुर्दों की दुर्गंध से भरजाते संसार ।
रोगों का ताण्डव मचे घर घर नर--संहार ॥६६॥
जीवितको दे अन्न तू मुर्दे को दे आग ।
मानव हो या रीति हो मरने पर कर त्याग ॥६७॥
वर्ण-व्यवस्था नष्ट हो या हो उसका त्राण ।
देश काल अनुसार है दोनो से कल्याण ॥६८॥
वर्ण अवर्ण न कर सके कोई धर्म-विरोध ।
सब धर्मों मे सर्वदा कर समता की शोध ॥६९॥

आश्रम व्यवस्था

आश्रम सब ही मानते है उससे कल्याण ।
जीवन मे कुछ शान्ति है है पापो से त्राण ॥७०॥
कर्म सदा करते रहो निज वय के अनुसार ।
चारों ही पुरुषार्थ तब आ जायेगे द्वार ॥७१॥
ब्रह्मचर्य आश्रम प्रथम जीवन भर का मूल ।
वैसा सब जीवन बने जैसा यह अनुकूल ॥७२॥
सकल शिल्प विद्या कला सारे ही संस्कार ।
आते दृढ़ बनते यही जीवन--मूलाधार ॥७३॥
पहिला आश्रम हो नही तो न पड़े सस्कार ।
मानव का आकार हो पर मन पशुतागार ॥७४॥
गार्हस्थ्याश्रम दूसरा जो सब का आधार ।
दुनिया इस पर चल रही यह सच्चा संसार ॥७५॥
यदि गृहस्थ आश्रम न हो हो सब सन्तति-हीन ।
जीते मर जाये सभी पैदा हो न नवीन ॥७६॥

ईश्वर की है कल्पना निज निज मन अनुसार ।
मन मे जो बस जाय वह जीवन का आधार ॥८८॥

सब ही प्राणी है यहा निर्बल क्षुद्र अनीश ।
इसीलिये है चाहते 'हो कोई जगदीश' ॥८९॥

जगकर्ता हो या न हो लेकिन हो आदर्श ।
मनको सान्त्वन दे सदा जिसका ध्यान विमर्श ॥९०॥

अगम अगोचर शक्ति हो या लोकोत्तर व्यक्ति ।
या सुखकर सिद्धान्त हो मन करता है भक्ति ॥युग्म॥

विपदाएँ जब हो विकट कोई हो न सहाय ।
लेकिन जिसके ध्यान से मनमे बल आ जाय ॥९२॥

मन विपदाऍ सहसके होकर वज्र समान ।
व्यक्ति शक्ति सिद्धान्त या वही कहा भगवान ॥(युग्म)॥

सत्य, शक्ति, कर्ता, नियति सब ऐश्वर्य–निधान ॥
करते है संसार का क्षेम सभी भगवान ॥९४॥

नाम रूप कोई रहे सब की भक्ति समान ।
सत्य-भक्ति होती जहां वहीं बसा भगवान ॥९५॥

मसक तरे जलसिन्धु को पाकर वायु सहाय ।
जीव तरे संसार को अगर भक्ति पा जाय ॥९६॥

मन प्रचंड है अश्वसम करता इच्छित काम ।
वशमे आ जाता तभी जब हो भक्ति लगाम ॥९७॥

मुर्दे मन भी भक्ति से हो जाते है शक्त ।
दुष्ट हृदय भी भक्ति से हो जाते अनुरक्त ॥९८॥

सब धर्मों मे हो रहा भक्ति--योग का गान।
भक्ति-विरोध वही हुआ जहां रहा अज्ञान ॥९९॥

कोरा भक्त अगर बना स्वकर्तव्य को भूल।
भक्ति निकम्मी हो गई ढोंग-रूप सुख--शूल ॥१००॥

सत्पथ पर हम दृढ रहे इसीलिये है भक्ति।
वह मन का आधार है और भावना-शक्ति ॥१०१॥

ज्ञान कर्म भी है वहा जहां भक्ति निर्दोष।
तीनों सहयोगी बने तभी पूर्ण सतोष ॥१०२॥

होते सम्यग्ज्ञान के भक्ति कर्म भी साथ।
प्रेम और कृति के बिना क्या आ सकता हाथ ॥१०३॥

ऋषि मुनि ज्ञानी तीर्थकृत् अर्हत जिन अवतार।
सत्य-भक्ति रखकर किया सबने कर्म अपार ॥१०४॥

ज्ञानी बन बनबैठते अगर कर्म से हीन।
देते कैसे जगत को सत्सन्देश नवीन ॥१०५॥

त्याग

जहा त्याग है है वहां भक्ति ज्ञान सत्कर्म।
अविवेकी का त्याग क्या ज्ञान-हीन क्या धर्म ॥१०६॥

छूट गया यदि मोह तो छूट गया दुःस्वार्थ।
मगर छूटना चाहिये क्यो जनहित परमार्थ ॥१०७॥

वनवासी अथवा गही अम्बर--धर या नग्न।
कैसा भी हो रह मगर सेवामे संलग्न ॥१०८॥

भक्ति ज्ञान या कर्म से सेवा का न विरोध ।
जहां न ये तीनो वहां व्यर्थ त्याग की शोध ॥१०९॥
अगर किसी को मुख्यता मिले काल अनुसार ।
तो न शेप का नाश है यह है धर्म-विचार ॥११०॥
सब धर्मों मे कर्म है एक सभी का सार ।
सत्य न्याय की हो विजय हो सुखशान्ति अपार ॥१११॥

पद्मावती

सब धर्म परस्पर निर्विरोध' सब मे भगवान समाया है ।
सबने इन नाना रूपो में बस कर्मयोग ही गाया है ।
सन्नीति रहे जगमें जिससे वह ही सद्धर्म बताया है ।
तू कर अपना कर्तव्य-कर्म जो तेरे सन्मुख आया है ॥११२॥
(६९२)

तेरहवाँ अध्याय

अर्जुन—

गीत २६

माधव तुम हो सच्चे ज्ञानी ।
तुम ही दूर करोगे मेरी भव-भव की नादानी ॥
माधव तुम हो सच्चे ज्ञानी ॥१॥

मर्म धर्म का नहीं समझती यह दुनिया दीवानी ।
धर्मोंमे द्वेषाग्नि लगी है मानो जलता पानी ॥
माधव तुम हो सच्चे ज्ञानी ॥२॥

दुनिया भूली प्रेम-धर्म की सुखकर सत्य कहानी ।
दीवानी दुनिया ने माधव कैसी शठता ठानी ॥
माधव तुम हो सच्चे ज्ञानी ॥३॥

घटघट के पट खोले तुमने अन्तर्ज्योति दिखानी ।
इस चेतन प्रकाश मे सबने धर्म-मूर्ति पहिचानी ॥
माधव तुम हो सच्चे ज्ञानी ॥४॥

दोहा

सर्व-धर्म-सम-भाव के ज्ञान—मंत्र का दान ।
तुमने माधव कर दिया किया बड़ा अहसान ॥५॥

फिर भी शंका हो रही चित्त हुआ है खिन्न ।
सब के दर्शन भिन्न क्यो तत्त्व-विवेचन भिन्न ॥६॥
धर्म धर्म जब एक है दर्शन में क्यों टेक ।
मंत्र-सिद्धि मे हो रहा विकट विघ्न यह एक ॥७॥

श्रीकृष्ण—

गीत २७

तू धर्म-शास्त्र का मर्म समझले भाई ।
दर्शन-शास्त्रो को ददे तनिक विदाई ॥
तुझको अपना कर्तव्य कर्म करना है ।
अपनी परकी जग की विपत्ति हरना है ।
पुरुषार्थ दिखाकर दुःख-सिन्धु तरना है ।
विपदाओं में भी अटल धैर्य धरना है ॥
यह कर्म सिखाता धर्म परम सुखदाई ।
तू धर्मशास्त्र का मर्म समझले भाई ॥८॥
ईश्वर है कोई या कि वचन का छल है ।
वह कर्ता है या नहीं अचल या चल है ।
क्यों करता यह अफसोस बना निर्बल है ।
तू समझ मर्म की बात 'कर्मका फल है' ॥
जिस तरह बने तू मान 'कर्म फलदाई' ।
तू धर्म-शास्त्र का मर्म समझले भाई ॥९॥
जग मूल रूप में एक विविधता माया ।
या प्रकृति पुरुष नें मिलकर खेल बनाया ।
या पंचभूत नें नाटक है दिखलाया ।
इन बातों में क्या धर्म-तत्त्व है गाया ॥

कर्तव्य यहां क्या देना है दिखलाई ।
तू धर्म-शास्त्र का मर्म समझले भाई ॥१०॥

है क्षणिकवाद ही सत्य जगत चंचल है ।
या नित्यवाद में युक्ति तर्क का बल है ।
या कुछ अनित्य कुछ नित्य वस्तुका दल है ।
यह धर्म विषय में सब विवाद निष्फल है ।

इसमें किसने क्या आत्मशान्ति है पाई ।
तू धर्म-शास्त्र का मर्म समझले भाई ॥११॥

तूने जग परिमित या कि अपरिमित जाना ।
या ठाना तूने द्वीप-समुद्र बनाना ।
उनमें फिर कोई मुक्ति-धाम भी माना ।
फिर अन्य किसीने भिन्नरूप मत ठाना ।

इन मत-भेदों ने धर्म-कथा क्या गाई ।
तू धर्म-शास्त्र का मर्म समझले भाई ॥१२॥

दर्शन खगोल भूगोल गणित पढ़ जाओ ।
नाना शास्त्रों में अपनी बुद्धि लगाओ ।
पांडित्य बढ़ाओ कला-प्रेम दिखलाओ ।
पर धर्मशास्त्र का अंग न उन्हें बनाओ ॥

वह धर्म-शास्त्र जिसने सन्नीति सिखाई ।
तू धर्म-शास्त्र का मर्म समझले भाई ॥१३॥

अर्जुन—   दोहा

दर्शन का यदि धर्म से रहे नहीं सम्बन्ध ।
ध्येय रहे प्रत्यक्ष क्या धर्म बने तब अन्ध ॥१४॥

मुक्ति न हो ईश्वर न हो और न हो परलोक ।
धर्म करे जग किस लिये वृथा पापकी रोक ॥१५॥

श्रीकृष्ण---

धर्म कहा सुख के लिये रख तू उस पर ध्यान ।
मुक्ति ईश परलोक को मतकर ध्येय प्रधान ॥१६॥

मुक्ति

मान नही या मान तू परम मुक्ति का धाम ।
बहु-जनका कल्याणकर हुए पूर्ण सब काम ॥१७॥
मुक्ति मानकर यदि किया निज पर का कल्याण ।
मुक्ति रहे अथवा नही हुआ दुःखसे त्राण ॥१८॥
'सदाचार फल सुख सदा' मानी इतनी बात ।
मुक्ति न मानी क्या गया रहा धर्म दिनरात ॥१९॥
दुख में भी सुख दे सके यही मोक्ष का कार्य ।
सिद्धशिला वैकुण्ठ या है न इसे अनिवार्य ॥२०॥
मैं तुझ से हूँ कह चुका यहीं मोक्ष संसार ।
किधर ढूँढ़ता मोक्ष तू अपनी ओर निहार ॥२१॥
मनको मोक्ष तभी मिले जब हो मन मे धर्म ।
धर्म तभी मिल पायगा, जब हों दूर कुकर्म ॥२२॥
नित्य मुक्ति हो या न हो सुख चाहे सब लोक ।
इसीलिये मत बोल तू वृथा पाप की रोक ॥२३॥

अर्जुन—

नित्य मुक्ति यदि हो नहीं व्यर्थ हुए सत्कर्म ।
थोड़े से सुख के लिये कौन करेगा धर्म ॥२४॥

श्रीकृष्ण—

तेरी शंका है वृथा जगकी ओर निहार ।
थोड़े से सुख के लिये नाच रहा संसार ॥२५॥
ज्यों कोल्हू का बैल त्यों दिन भर फिरते लोग ।
दिनभर जीने के लिये करते तामस योग ॥२६॥
सुबह लिया पर शाम को फिर है खाली पेट ।
इतने से सुख के लिये है जग का आखेट ॥२७॥
जब कणकण सुख के लिये करते नित्य कुकर्म ।
तब मन भर सुखके लिये क्यों न करेंगे धर्म॥२८॥
पारलौकिकी मुक्ति की सारी चिन्ता छोड़ ।
मिले मुक्ति-सुख इसलिये पाप-जाल दे तोड़ ॥२९॥

ईश्वर

ईश्वर की चिन्ता न कर घटघट में भगवान ।
सत्य-ज्ञान-आनन्द-मय जगत्पिता गुणखान ॥३०॥
'पुण्यपाप जो कुछ करो उसका फल अनिवार्य' ।
इस प्रकार विश्वास हो यह ईश्वर का कार्य ॥३१॥
जिसको यह विश्वास है मिला उसे भगवान ।
आस्तिक नास्तिककी यही है सच्ची पहिचान ॥३२॥
ईश्वरवादी है बहुत करें नाम का जाप ।
पर भीतर ईश्वर नहीं वहाँ भरा है पाप ॥३३॥
ईश्वर ईश्वर सब कहें पर न करें विश्वास ।
यदि ईश्वर-विश्वास हो रहे न जग में त्रास ॥३४॥

पर की आँखों में जगत तब क्यो डाले धूल ।
जब ईश्वर है देखता दंड—अनुग्रह—मूल ॥३५॥
श्रद्धा ईश्वर पर रहे रहे परस्पर प्यार ।
दिख न पड़ें तब जगत मे चोरी या व्यभिचार ॥३६॥
श्रद्धा ईश्वर पर नही और न उसका ज्ञान ।
इसीलिये है पापमय यह संसार महान ॥३७॥

गीत २८

जगत तो भूला है भगवान ।
हुआ है छलनामय गुणगान ॥
जगत अगर जगदीश मानता ।
यदि अमोघ फलदान जानता ।
तो क्यो फिर विद्रोह ठानता ।
क्यो होता इस धरणीतल पर पापो का सन्मान ।
जगत तो भूला है भगवान ।
हुआ है छलनामय गुणगान ॥३८॥
यदि होता विश्वास हमारा ।
ईश्वर—व्याप्त जगत है सारा ।
तो असत्य क्यो लगता प्यारा ॥
धूल झोकते क्यों पर की आँखो मे हम नादान ।
जगत तो भूला है भगवान ।
हुआ है छलनामय गुणगान ॥३९॥
दुनिया को क्या अन्ध बनाया ।
जब जगदीश्वर भूल न पाया ।

हमने ही सब धोखा खाया ।
पर इस सीधी सरल बात का है किस किस को ध्यान ।
जगत तो भूला है भगवान ।
हुआ है छलनामय गुणगान ॥४०॥

पापों से बचकर न रहेंगे ।
ईश्वर ईश्वर सदा कहेंगे ।
लड़ लड़कर सब कष्ट सहेंगे ॥
ईश्वर-भक्ति न जान इसे तू है कोरा अभिमान ।
जगत तो भूला है भगवान ।
हुआ है छलनामय गुणगान ॥४१॥

पापों से जो रहता न्यारा ।
उसको ही है ईश्वर प्यारा ।
है सत्कृति में ईश्वर-धारा ॥
इस अनीशवाद का रहने दे कोरा व्याख्यान ।
जगत तो भूला है भगवान ।
हुआ है छलनामय गुणगान ॥४२॥

दोहा

कोई ईश्वर मानते कोई माने कर्म ।
फल पर यदि विश्वास हो तो दोनों ही धर्म ॥४३॥
सदसत् कर्मों की नहीं यदि मन में पर्वाह ।
सारे वाद वृथा गये मिली न सुख की राह ॥४४॥
कर्मवाद भी व्यर्थ है यदि न कर्म का ध्यान ।
पुण्य पाप का ध्यान हो तो सब वाद महान ॥४५॥

गीत २९

वृथा है कर्मवाद का गान ।
नहीं यदि सत्कर्मों का ध्यान ॥

यदि ईश्वर को दूर हटाया ।
युक्ति तर्कका खेल दिखाया ।
कर्मवाद का शंख बजाया ।

तथ्य सत्य फिर भी न बना यदि हुआ न कृतिका भान ।
वृथा है कर्मवाद का गान ।
नहीं यदि सत्कर्मों का ध्यान ॥४६॥

कर्म क्षमा न करेगा भाई ।
वह न सुनेगा कभी दुहाई ।
लेलेगा वह पाई पाई ।

जैसी करनी वैसी भरनी कर्मवाद पहिचान ।
वृथा है कर्मवाद का गान ।
नहीं यदि सत्कर्मों का ध्यान ॥४७॥

अँधियारा हो या उजियाला ।
हो या नहीं देखनेवाला ।
पिया किसीने विष का प्याला ।

होगी मौत, भले ही विषका हो गुणगान महान ।
वृथा है कर्मवाद का गान ।
नहीं यदि सत्कर्मों का ध्यान ॥४८॥

दोहा

कर्म मानकर यदि रहा पुण्य पाप का ध्यान ।
ईश्वर माना या नहीं है आस्तिक्य महान ॥४९॥

दर्शन-शास्त्र-विवाद ये समझ न धर्माधार ।
धर्म यही है सकल जग, पावे तेरा प्यार ॥५०॥
ईश्वरवादी मानले ईश्वर का ससार ।
ईश्वर के संसार पर क्यों हो अत्याचार ॥५१॥
कोई देखे या नहीं देखे ईश्वर--दृष्टि ।
इसीलिये छिपकर कभी कर न पाप की सृष्टि ॥५२॥
सम्राटो से भी बड़ा है वह न्यायाधीश ।
उससे छिप सकता न कुछ व्यापक वह जगदीश ।५३
अगर छिपाया जगत से तोभी है निःसार ।
ईश्वर से क्या छिप सके जिसकी दृष्टि अपार ॥५४॥
छलसे यदि पाया नही यहां पाप का दड ।
पापी पायेगा वहां ईश्वर--दड प्रचंड ॥५५॥
ऐसी श्रद्धा है जहा वहां न रहता पाप ।
पापहीन पर ईश की करुणा अपने आप ॥५६॥
कर्मवाद जिसने लिया उसका है यह कार्य ।
जगको धोखा दे नहीं फल मिलना अनिवार्य ॥५७॥
दुनिया फल दे या न दे अटल कर्म का दड ।
कर्म शक्ति करती सदा खड खंड पाखंड ॥५८॥
है गवाह अथवा नहीं कर्म को न पर्वाह ।
भला कभी क्या देखता विष गवाह की राह ॥५९
दोनो, वाद सिखा रहे हमे एक ही वात ।
सदसत कर्मोंका यहा फल मिलता दिनरात ॥६०॥

दोनों का दर्शन जुदा किन्तु धर्म है एक।
पर दर्शन के भेद से धर्मोंमें न कुटेक ॥६१॥

परलोक

आत्मतत्त्व ध्रुव सत्य है है उसका परलोक।
इसीलिये ही मौतका करें न बुध-जन शोक ॥६२॥
फटे पुराने वस्त्र सा छोड़ा एक शरीर।
तभी दूसरा मिल गया क्यों होना दिलगीर ॥६३॥
आत्मसिद्धि हैं कर रहे अनुभव और विवेक।
फिर भी दर्शन-शास्त्रकी यह है गुत्थी एक ॥६४॥
है निःसार विवाद यह इसका कभी न अन्त।
इसीलिये पड़ते नहीं इस झगड़े में सन्त ॥६५॥
अपने अनुभव में करो ये आत्माका ध्यान।
अजर अमर चैतन्यमय आत्मा शक्ति-निधान ॥६६॥
आत्मतत्त्व जब नित्य है तब परलोक अरोक।

स्वकर्तव्य करते रहे भले सहे फिर पीर ।
रहा नहीं तो है रहा बने रहे कुछ धीर ॥७२॥
अजब कमाई धर्म की कभी न मारी जाय ।
यह हुंडी ऐसी नहीं जो न सिकारी जाय ॥७३॥
इस जीवन का कष्ट सब है क्षणभर का कष्ट ।
क्षणभर के सुख के लिये समता करे न नष्ट ॥७४॥
कालचक्र है अवनि-सम जीवन रेणु-समान ।
एक रेणुकण के लिये क्यो हो चिन्तावान ॥७५॥
यही व्यापिका दृष्टि है आत्म-तत्त्व का अर्थ ।
बाकी वादविवाद सब शक्ति-क्षीणकर व्यर्थ ॥७६॥
अगर न पाई दृष्टि यह व्यर्थ आत्म-गुण-गान ।
जो थोड़े मे फँस रहा वही बना नादान ॥७७॥
जीवन बलि हो जाय यह कर मत कुछ पर्वाह ।
बस अपना कर्तव्यकर चल जनहितकी राह ॥७८॥
जिसने पाया अर्थ यह उसे मिला परलोक ।
रहा कर्म मे लीन पर हुआ न अणुभर शोक ॥७९॥
आत्मा माने या नहीं है उसका कल्याण ।
उसने पाया धर्म से आत्मवाद का प्राण ॥८०॥
आत्म अनात्म-विवाद है दर्शन का ही अंग ।
इस विवाद को कर नहीं धर्मशास्त्र के संग ॥८१॥
नाम लिया परलोक का किये ओट में पाप ।
'मन' अनात्मवादी तभी बनते अपने आप ॥८२॥
आत्मवाद के साथ में रह न सकेगा पाप ।
अगर पाप है तो लगी बस अनात्मकी छाप ॥८३॥

आत्मा माने या नहीं अगर नहीं है पाप ।
आत्म-ज्ञान वह पागया दूर हुए सब ताप ॥८४॥
पारलैकिकी सृष्टि की सारी चिन्ता छोड़ ।
जो अपना कर्तव्य है उससे नाता जोड़ ॥८५॥
कहां बसा परलोक है इसका कर न ख़याल ।
तुझे फँसा ले जायगा दुष्ट वितंडा–जाल ॥८६॥
यदि यह जीवन धर्ममय तो पर-जन्म महान ।
होता है सद्धर्म का सुख मे पर्यवसान ॥८७॥
इतना ही विश्वासकर ले यह जन्म सुधार ।
सब धर्मोका ध्येय है हो सुखशान्ति अपार ॥८८॥
जब समाज के बीचमे छा जाते है पाप ।
सत्य-अहिंसा-पुत्र तब आते अपनेआप ॥८९॥
दूर हटावे जगत के जो नर अत्याचार ।
वे कहलाते है यहां तीर्थंकर अवतार ॥९०॥
चलकर दिखलाते सुपथ बतलाते सदुपाय ।
मिट जाते हैं अन्त मे अन्यायी अन्याय ॥९१॥
कष्ट यहां के नष्ट हों सब धर्मो का ध्येय ।
इसी ध्येय की पूर्त्ति को चर्चा चले अमेय ॥९२॥
दुनिया का उद्धार कर पाप-प्रगति दे रोक ।
बिना कहे आजायगा मुट्ठी मे पर-लोक ॥९३॥

अर्जुन —

द्वैताद्वैत

मुक्ति ईश परलोक की चिन्ता कर दी दूर ।
एक बात पर कर रही मनको चकनाचूर ॥९४॥

द्वैत और अद्वैत में हृदय रहा है झूल ।
बतलादो मुझको सखे, कौन यहां अनुकूल ॥९५॥
ब्रह्म एक ही सत्य है कहते ऋषि मुनि आर्य ।
मायामय संसार यह करूं वृथा क्यों कार्य ॥९६॥
सुलझ सुलझकर उलझती ज्ञात बनी अज्ञात ।
टाल डाल से जारही पातपात पर बात ॥९७॥

श्रीकृष्ण—

तूने दर्शन-शास्त्र का पिंड न छोड़ा पार्थ ।
इसीलिये भ्रम में पड़ा भूल गया परमार्थ ॥९८॥
'जगत मूल में एक है अथवा हैं दो तत्त्व'
धर्म मिलेगा क्या यहां क्या है इसमें सत्त्व ॥९९॥
मिट्टी के हैं दस घड़े उनकी दशा न एक ।
अगर एक मिट जाय तो फिर भी बचें अनेक ॥१००॥
दुग्ध रक्त पर है लगी एक तत्त्व की छाप ।
रक्तपान में पाप पर दुग्धपान निष्पाप ॥१०१॥
उपादान यदि एक है जुदे जुदे हैं कार्य ।
तो सुखदुख या नाशका ऐक्य नहीं अनिवार्य ।१०२
एक आग ही बन रहा वध्य-वधक का मूल ।
तो भी हिंसकता नहीं जीवन के अनुकूल ॥१०३॥
है सुख दुख के मूल में एक चेतना तत्त्व ।
तो भी सुखको छोड़कर दुःख न चाहें सत्त्व ॥१०४॥
एक तत्त्व की बात है जीवन में निःसार ।
धर्मशास्त्र में व्यर्थ यह द्वैताद्वैत विचार ॥१०५॥

अंगी अंग जुदे जुदे यही भेद--विज्ञान ।
धर्मशास्त्रका द्वैत है रख तू इसका ध्यान ॥१०६॥
जहां भेद-विज्ञान है वहां न रहता पाप ।
आत्मा क्यो तन के लिये सहने बैठे ताप ॥१०७॥
धर्म कहे अद्वैत को विश्व--प्रेम का रंग ।
स्वार्थ मिले परमार्थ में दोनो का हो सग ॥१०८॥
मान द्वैत--अद्वैत या दोनो है निर्दोष ।
किन्तु अर्थ करते समय धर्म-शास्त्र कर कोष ॥१०९॥
माया है या सत्य जग इसकी चिन्ता छोड़ ।
तेरा जो कर्तव्य है उससे मुँह मत मोड़ ॥११०॥
यदि माया है विश्व तो माया तेरा कार्य ।
माया के दर्बार मे माया है अनिवार्य ॥१११॥
माया ही सब दुःख है माया सकल उपाय ।
माया देने मे भला तेरा क्या लुटजाय ॥११२॥
तुझ पर अत्याचार मे था माया का मेल ।
तो उसका प्रतिकार भी है माया का खेल ॥११३॥
मायामय खींचा गया अगर द्रौपदी चीर ।
दुःशासन की मौत भी माया, फिर क्या पीर ॥११४॥
भोगा बारह वर्ष तक मायामय वनवास ।
अब मायामय राज्य कर इसमे कैसा त्रास ॥११५॥
सब माया का खेल है पर न अधूरा खेल ।
जब तक खेल मिटे नहीं तब तक चोटे झेल ॥११६॥
अब तक खेला खेल तू अब क्यो करता त्याग ।

माया के संसार मे माया राग विराग ॥११७॥
राजा बन या रक बन ले घर या संन्यास ।
मायामय ससार सब कहाँ करेगा वास ॥११८॥
माया ब्रह्म अभिन्न हैं भीतर तनिक टटोल ।
ब्रह्म सिन्धु जल तुल्य है माया जल-कल्लोल ॥११९॥
ब्रह्महीन माया नहीं ब्रह्म न मायाहीन ।
नित्य अनित्य भले रहे किन्तु परस्पर लीन ॥१२०॥
एक छोड़कर दूसरा मिल न सकेगा पार्थ ।
जहां समन्वय उभय का वहीं रहा परमार्थ ॥१२१॥
बाहर माया दिख रही कर बाहर सब काम ।
ब्रह्म तुल्य निर्लिप्त रह भीतर तेजो-धाम ॥१२२॥
दर्शन के पार्थक्य से हृदय नहीं कर खिन्न ।
धर्म-शास्त्र से भिन्न है दर्शन का नय भिन्न ॥१२३॥
दर्शन कोई ले मगर पूर धर्म के प्राण ।
धर्म-शास्त्र की दृष्टि कर देख स्वपर-कल्याण ॥१२४॥
धर्म धर्म सब एक हैं सब में जनहित सार ।
सब मे सत्येश्वर विजय और पाप की हार ॥१२५॥
सद्धर्मसार ले समझ सत्यका ज्ञान ध्यान मे आने दे ।
दर्शन शास्त्रोमे झगड़ झगड अपनी मति व्यर्थ न जानेदे ।
कर्तव्य पथ का दर्शन कर सद्विजय न्याय को पाने दे ।
मरने को है अन्याय खडा तेरे हाथों मर जाने दे ॥१२६॥
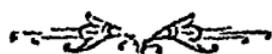
देशकाल प्रतिकूल जो करे रूढ़ियाँ वास ।
उनको दूर न कर सके कभी अन्ध-विश्वास ॥८॥
छोड़ू श्रद्धा इसलिये तर्क शस्त्र लू हाथ ।
काट छाँट करने चलू कर सशय का साथ ॥९॥
करू परीक्षा बुद्धि से छानू सारे धर्म ।
जीवन भर खोजा करूं सत्य--धर्म का मर्म ॥१०॥
लेकिन क्या हो पायगा कभी खोज का अन्त ।
बुद्धि तर्क मितशक्ति है जगमें खोज अनन्त ॥११॥
जीवन भर खोजा करू पा न सकूं विश्राम ।
करने बैठू कब सखे मै जीवन के काम ॥१२॥
छोटी सी यह बुद्धि है हैं सब शास्त्र अथाह ।
अगर थाह लेने चलूं हो जाऊँ गुमराह ॥१३॥
ऋषि मुनि तीर्थंकर कहां कहा मन्दमति पार्थ ।
करू परीक्षण किस तरह व्यर्थ यहां पुरुषार्थ ॥१४॥
मेन्धव--कण लेने चले यदि समुद्र की थाह ।
घुले विचारा बीच मे पा न सके अवगाह ॥१५॥
बिना परीक्षण के अगर मिल न सके सद्धर्म ।
मन्दबुद्धि ससार यह कैसे करे सुकर्म ॥१६॥
श्रद्धा से गति है नहीं तर्क से न विश्राम ।
करुणा कर बोलो सखे करू कौनसा काम ॥१७॥
मन कहता कुछ बात है बुद्धि दूसरी बात ।
करू समन्वय किस तरह हो न परस्पर घात ॥१८॥

श्रीकृष्ण—

बुद्धि हृदय दोनो मिले दोनो हो अनुकूल ।
सत्येश्वर-दर्शन तभी सकल सुखो का मूल ॥१९॥
श्रद्धाहीन न तर्क हो श्रद्धा हो न अतर्क ।
वर्तमान दोनो रहे तो हो सुखद उदर्क ॥२०॥

श्रद्धा

श्रद्धा यदि पाई नही व्यर्थ बुद्धि का खेल ।
सुख-प्रसूति होती तभी जब दोनों का मेल ॥२१॥
सात्त्विक राजस तामसी श्रद्धा तीन प्रकार ।
निश्चय होना चाहिये सात्त्विक के अनुसार ॥२२॥
सात्त्विक श्रद्धा है वही जो न कभी छलरूप ।
बुद्धि-तर्क-अविरुद्ध जो सत्यभक्ति–फलरूप ॥२३॥
स्वार्थवासनाशून्य जो, जिसमे रहे विवेक ।
जिसमे रहे न मूढ़ता रहे सत्य की टेक ॥२४॥
राजस श्रद्धा है वही जहां स्वार्थ की चाह ।
गुणों की न पर्वाह है सत्य की न पर्वाह ॥२५॥
तामस श्रद्धा है वहां जहां घोर अविवेक ।
बुद्धि बहिष्कृत है जहां जड़ता का अतिरेक ॥२६॥
रूढ़ि करे तांडव जहां पदपद पर दिन रात ।
सही न जाये सत्य भी नये रूप की बात ॥२७॥
तामस श्रद्धा छोड दे राजस से मुँह मोड़ ।
सात्त्विक श्रद्धा साथ ले कर सुकार्य जीतोड़ ॥२८॥

ऋषि मुनि आदिक दे गये अपने युग का ज्ञान ।
आज ज़रूरी क्या यहां कर इसकी पहिचान ॥४०॥
धर्म-परीक्षण है यही यही शास्त्र का बोध ।
यह विवेक का कार्य है यही वेद की शोध ॥४१॥
यदि विवेक आया नही व्यर्थ शास्त्र का ज्ञान ।
सब शास्त्रों का मर्म है हित--अनहित पहिचान ॥४२॥
सहज तर्क सब को मिला कर उसका उपयोग ।
धर्म परीक्षण कर सदा मिटे मूढ़ता रोग ॥४३॥
पक्षपात को छोड़ दे करले शुद्ध विचार ।
तर्क-सुसंगत बात कर श्रद्धा का आधार ॥४४॥
धर्म निकष बतला चुका रख तू उसका ध्यान ।
थोड़े में हो जायगा हित-अनहित का ज्ञान ॥४५॥

अर्जुन—

तर्क कल्पनारूप है उसका व्यर्थ विचार ।
दे न सकेगा वह कभी परम सत्यका सार ॥४६॥

श्रीकृष्ण—

तर्क न कोरी कल्पना वह अनुभव का सार ।
अनुभव विविध निचोड़ कर हुआ तर्क तैयार ॥४७॥
नियत साध्य-साधन रहे अनुभव के अनुकूल ।
सदा अबाधित व्याप्ति हो वही तर्क का मूल ॥४८॥
जितनी मन की कल्पना उतना भ्रम सन्देह ।
शुद्ध तर्क तो है सदा सत्य ज्ञान का गेह ॥४९॥

मिली तर्क मे कल्पना सत्य हुआ प्रच्छन्न ।
सत्य जहां प्रच्छन्न है जीवन वहा विपन्न ॥५०॥
तर्कशास्त्र ले हाथ में कर असत्य को चूर्ण ।
जो जो सत्य जॅचे वहां रख तू श्रद्धा पूर्ण ॥५१॥
देव शास्त्र गुरु जॉचले कर न अन्ध-विश्वास ।
फिर अविचल श्रद्धालु बन बन जा उनका दास ॥५२॥
श्रद्धा और विवेक से ऐसा नाता जोड ।
सत्यामृत बहता रहे हृदय निचोड निचोड ॥५३॥

अर्जुन—

देव शास्त्र गुरु है बहुत दूॅ किन किन को मान ।
कैसे पहिचानू उन्हें क्या उनकी पहिचान ॥५४॥
देव कहा है विश्व मे कहा देव का धाम ।
गुरु रहते किस वेष में उनको करू प्रणाम ॥५५॥

श्रीकृष्ण

देव

जीवन के आदर्श जो समझ उन्हे तू देव ।
झुक जाता उनकी तरफ सब का मन स्वयमेव ॥५६॥
पूर्णदेव गुण-देव है व्यक्ति-देव है अंश ।
व्यक्तिदेव नरदेव है करे पाप का भ्रंश ॥५७॥
नित्यदेव गुणदेव है पाकर उनका सार ।
बने महात्मा जगत मे वे नर-देव अपार ॥५८॥
सभी जगह गुणदेव हैं घटपट में है वास ।
देख चुका गुणदेव जो हटा उसी का त्रास ॥५९॥

परम भक्त गुणदेव के व्यक्तिदेव गुणखानि ।
तारे जो संसार को कर पापों की हानि ॥६०॥

गीत ३०

सब देवों का दर्बार भरा है भाई ।
है सत्य सभी का पिता अहिंसा भाई ॥

ये मात-पिता शिव-शिवा ब्रह्म सह माया ।
परमेश्वर परमेश्वरी गुणो की काया ॥
श्री ह्री धृति लक्ष्मी बुद्धि इन्ही की छाया ।
सब ही शास्त्रों ने गान इन्हीं का गाया ॥

सदसद्विवेक सत्प्रेम--रूप सुखदाई ।
है सत्य सभी का पिता अहिंसा भाई ॥६१॥

सब सम्प्रदाय हैं स्थान जमाये इन में ।
सब शास्त्र खड़े है शीस नमाये इन मे ॥
सारे योगी है योग रमाये इनमे ।
जगके सारे गुणदेव समाये इनमे ॥

है लीन इन्हीं में शक्ति न्याय चतुराई ।
है सत्य सभी का पिता अहिंसा माई ॥६२॥

इनके जो सच्चे भक्त जगत मे आते ।
वे ऋषि तीर्थंकर या अवतार कहाते ।
इनकी पूजा कर जग-सेवा कर जाते ।
इनके अनुपम सन्देश जगत मे लाते ॥

उनमे भी इनसे देवरूपता आई ।
सब देवों का दर्बार भरा है भाई ॥६३॥

गुणदेव विराजे यहाँ सभी के मनमे ।
जो करे उन्हे प्रत्यक्ष वचन तन जन मे ॥
गुण-देव-भक्त वे देव बने नरतन मे ।
नर से नारायण बने इसी जीवन में ॥
उन नरदेवो की अद्भुत पुण्य कमाई ।
नव देवो का दर्बार भरा है भाई ॥६४॥

वे सत्य अहिंसा--पुत्र जगत के भ्राता ।
जो थे जीवनभर रहे दुखित-जन-त्राता ॥
दुख सह स्वयं पर जगको दी सुख साता ।
थे तो मनुष्य पर जगके भाग्य-विधाता ॥
वे पार हुए दुनिया ने महिमा गाई ।
नव देवो का दर्बार भरा है भाई ॥६५॥

जिसने गुण-देवो का शुभ दर्शन पाया ।
जिसने नर--देवो मे समभाव दिखाया ।
बन सत्य-अहिंसा-भक्त जगत मे आया ।
जिसने सेवा कर घर घर रस बरसाया ॥
है धन्य उसी का पिता उसी की माई ।
नव देवो का दर्बार भरा है भाई ॥६६॥

शास्त्र

नरदेवो के वचन या जीवन का इतिहास ।
सपथ-दर्शक शास्त्र है सत्येश्वर का दास ॥६७॥
देशकाल को देखकर व्यक्ति-शक्ति अनुसार ।
सब शास्त्रो का सार ले जो हो तारणहार ॥६८॥

एक बात अच्छी यहाँ वहाँ बुरी हो जाय ।
देशकाल अनुकूल जो वही समझ सदुपाय ॥६९॥
सब शास्त्रों को देख तू देशकाल मत भूल ।
सत्य, असत्य बने वहाँ जहां समय प्रतिकूल ॥७०॥
देशकाल के भेद से दिखता जहां विरोध ।
समभावी बन, कर वहाँ शुद्धबुद्धि से शोध ॥७१॥
तू तो न्यायाधीश है है सब शास्त्र गवाह ।
शुद्ध बुद्धि से न्यायकर अगर सत्यकी चाह ॥७२॥
यदि विकार है शास्त्र मे तोभी क्या पर्वाह ।
सब विकार धुल जाँयँगे पाकर बुद्धि--प्रवाह ॥७३॥
शास्त्र-परीक्षण कर सदा करले निकष विवेक ।
सार सार सब खींचले सब अनेक हो एक ॥७४॥
विधि-दृष्टान्त स्वरूप दो धर्म शास्त्र के भेद ।
नियम और दृष्टान्त से भरे हुए सब वेद ॥७५॥
मनके तनके वचन के पापों पर परमास्त्र ।
अन्तर बाहर के नियम बतलाता **विधि शास्त्र** ॥७६॥
उन नियमो की सफलता या उनका व्यवहार ।
बतलाते **दृष्टान्त** है धर्मशास्त्र का सार ॥७७॥
नियम बदलते है सदा देशकाल-अनुसार ।
जिनसे जनकल्याण हो हो उनका व्यवहार ॥७८॥
किसी शास्त्र मे है नियम देशकाल-प्रतिकूल ।
उन्हे बदल पर रख विनय अहंकार है भूल ॥७९॥
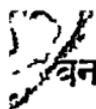
बनता कोई शास्त्र जब देशकाल वह देख ।
शास्त्र नियम होते नहीं कभी वज्र की रेख ॥८०॥
सत्य अहिंसा हैं अटल सब धर्मोंका सार ।
किन्तु विविधता से भरा है उनका व्यवहार ॥८१॥
घबरा मत वैविध्य से देख जगत्कल्याण ।
टुकडे टुकडे जोड़कर पूर सभी मे प्राण ॥८२॥
दृष्टान्तो का काम है खींचे जीवन चित्र ।
महाजनो को देख जन जीवन करे पवित्र ॥८३॥
ये कल्पित दृष्टान्त हों या कि अकल्पित-तथ्य ।
तथ्यातथ्य विचार मत है दोनो ही पथ्य ॥८४॥
नीति सिखावे जो कथा वह अतथ्य या तथ्य ।
दोनो मे ही सत्य है है वह जगको पथ्य ॥८५॥
पर अतथ्य ऐसा न हो करे न जग विश्वास ।
अगर असम्भव जग कहे तो है व्यर्थ प्रयास ॥८६॥
सम्भव सी सब को लगे दे सत्पथ की दृष्टि ।
हुई कथा साहित्य में धर्म--शास्त्र की सृष्टि ॥८७॥
अगर न विश्वसनीय तो क्या उसका उपयोग ।
झूठी बातें समझकर नाक सिकोडे लोग ॥८८॥
बात भले कल्पित रहे पर यदि विश्वसनीय ।
असर करे तो हृदय पर लगे सत्य कमनीय ॥८९॥
पिघल पिघल कर दिल बहे धुल जायें सब पाप ।
स्वच्छ हृदय मे धर्म हो बिम्बित अपने आप ॥९०॥

चौदहवाँ अध्याय

कथारूप जो शास्त्र है उन्हे न कह इतिहास ।
यद्यपि है इतिहास से अधिक सत्यके पास ॥९१॥
जो कुछ होता जगत मे उसे सत्य मत मान ।
जो कुछ होना चाहिये उसे सत्य पहिचान ॥९२॥
कथा-शास्त्र का है सदा तथ्य-मूल्य कुछ अल्प ।
सत्य-मूल्य पर है अधिक है कल्याण अनल्प ॥९३॥
देख कथा साहित्य मे सच्चरित्र निर्माण ।
जितना हो निर्माण यह उतना जग-कल्याण ॥९४॥
शास्त्र-परीक्षण कर सदा रख पर ऐसी दृष्टि ।
मर्म देख जो कर सके सत् शिव सुन्दर सृष्टि ॥९५॥

गुरु

शास्त्र परीक्षण की तरह गुरु की भी कर जाँच ।
गुरु-वेषी कोई कुगुरु दे न साँचको आँच ॥९६॥
जीवन भी देकर करे निज पर का उद्धार ।
वही सुगुरु है जगत मे धीरज का आधार ॥९७॥
मूर्त्तिमंत जो साधुता साधे जो परकार्य ।
जीवन भर जिसके लिये देना है अनिवार्य ॥९८॥
जितना ले उससे अधिक जगको करता दान ।
जिसका जीवन बन रहा मूर्त्तिमंत व्याख्यान ॥९९॥
करके दिखलाता सदा जो कुछ बोले बोल ।
वह मानव है, है नही कोरा बजता ढोल ॥१००॥
वह चरित्र बल से बली वेष न जिसकी पूर्त्ति ।
वह मानव है, है नही--जड़ पदार्थ की मूर्त्ति ॥१०१॥

पोथो का कीड़ा नहीं अनुभव उसका ज्ञान ।
वह मानव है, है नहीं रट्टू कीर समान ॥१०२॥
उसने पाया है प्रथम मानवता का मान ।
वह मानव है, है नहीं--पुच्छ--हीन हैवान ॥१०३॥
विनय विवेक सुबन्धुता कर्मठता का गेह ।
वह मानव है, है नहीं--नर की मुर्दा देह ॥१०४॥
ऐसा सद्गुरु ढूँढ़ले गुणगण का भंडार ।
जो जहाज बनकर करे भवसागर के पार ॥१०५॥
रखकर गुरु का वेष जो करते नाना पाप ।
उनका भडाफोड़ कर मिटे जगत का ताप ॥१०६॥
पैर पुजाने के लिये लेते जो गुरुवेष ।
वे पृथ्वी के भार हैं कर उनको निःशेष ॥१०७॥
ज्ञान नहीं सयम नही और न पर उपकार ।
वे कुसाधु गुरु-वेष में हैं पृथ्वी के भार ॥१०८॥
धूर्त लोग गुरु--वेप मे बने रक से राव ।
वे ससार समुद्र में हैं पत्थर की नाव ॥१०९॥
सम्प्रदाय कोई रहे कोई भी हो वेष ।
वह गुरु जिसका हो गया अन्तर्मल निःशेष ॥११०॥
गृही रहे सन्यस्त या दोनो एक समान ।
वह गुरु जिसका है सदा जगके हितपर ध्यान ॥१११॥
कुगुरु-जाल से बच सदा पकड़ सुगुरु का हाथ ।
अंतिम तत्त्व न भूल पर तू ही तेरा नाथ ॥११२॥

यदि विवेक तुझ में नहीं तो क्या गुरुकी छाप ।
यदि विवेक है तो बना तू अपना गुरु आप ॥११३॥
तुझ में अगर न योग्यता व्यर्थ देव-गुरु-शास्त्र ।
कायर निर्बल के लिये व्यर्थ सकल दिव्यास्त्र ॥११४॥
है निमित्तभर देव गुरु उपादान तू आप ।
उपादान बेजान तो व्यर्थ निमित्त-कलाप ॥११५॥
उपकारी हैं देवगुरु पूज्य इन्हे तू मान ।
पर पलभर भी भूल मत तू अपना भगवान ॥११६॥
सबकी सुन पर सोच खुद देख सुदृष्टि पसार ।
है शास्त्रों का शास्त्र यह खुला हुआ संसार ॥११७॥

(गीत ३१)

भाई पढ़ले यह ससार ।
खुला हुआ है महाशास्त्र यह जिस मे वेद अपार ।
भाई पढ़ले यह ससार ॥११८॥

अणु अणु में पत्तो पत्तों मे लिखा हुआ है ज्ञान ।
पढ़ सकतीं अन्तर की आँखे, पढ़े वही विद्वान ॥
है सारा जग विद्यागार ।
भाई पढ़ले यह संसार ॥११९॥

अनुभव और तर्क दो ऑखें अञ्जन सारे वेद ।
देख सके सो देखे भाई काला और सफ़ेद ॥
अद्भुत पुण्य पाप भंडार ।
भाई पढ़ले यह संसार ॥१२०॥

कौन पढ़ा सकता है तुझको तुझमे, अगर न ज्ञान ।
सूर्य करे क्या जब हो अपनी ऑखे घूक समान ॥
तब गुरु का प्रयत्न बेकार ।
भाई पढ़ले यह ससार ॥१२१॥

सुन सब की कर अपने मनकी पर विवेक रख सग ।
अग अग मे यौवन उछले उछले ज्ञान--तरंग ॥
निज पर सबका हो उद्धार ।
भाई पढले यह ससार ॥१२२॥

दोहा

जो कहना था कह चुका अब तू स्वयं विचार ।
एक बात मे भूल मत चारो ओर निहार ॥१२३॥

क्या कहते सब धर्म है क्या कहते गुरु लोग ।
क्या कहता तेरा हृदय कर सब का सयोग ॥१२४॥

देख सत्य भगवान का पूर्ण विराट स्वरूप ।
क्षीरोदधि को देखले छोड़ अन्धतम कूप ॥१२५॥

उस विराट भगवान के अग अग प्रत्यग ।
है विचित्र सबमे भरे दुनिया के सब रंग ॥१२६॥

अंग अंग मे रम रहे कोटि कोटि ब्रह्मांड ।
दिव्य दृष्टि से देखले जग के सारे काड ॥१२७॥

सर्व धर्म सब नीतियॉ सर्व योग पुरुपार्थ ।
देख नियम यम ज्ञान सब दिव्य दृष्टि से पार्थ ॥१२८॥

(पीयूषवर्ष)

सत्य शिव सुन्दर अहिसा साथ है ।
अर्ध-नारीश्वर जगत का नाथ है ।
प्राप्त कर उसका सुदर्शन आज तू ।
जानले कर्तव्य के सब साज तू ॥१२९॥

कवि— (हरिगीतिका)

श्रीकृष्ण का उपदेश सुनकर पार्थ जब ध्यानी हुए ।
भगवान के दर्बार का दर्शन हुआ ज्ञानी हुए ।
देखा विराट स्वरूप उनने अश्रु तब बहने लगे ।
रोमाञ्च-अञ्चित-अग बन श्रीकृष्ण से कहने लगे ॥१३०॥

अर्जुन— ललितपद

पुरुषोत्तम हो रहा मुझे अब दर्शन सत्येश्वर का ।
करता हूं अपूर्व दर्शन मै नारी का या नर का ॥
दक्षिणांग भगवान सत्य है चेतन जग निर्माता ।
वामांगी भगवती अहिसा यम नियमो की माता ॥१३१॥
भिन्नाभिन्न अपूर्व ज्योति यह देख रहा हूँ माधव ।
कोटि कोटि रवि शशि बनते है पा पाकर जिसका लव ।
नित्य दर्शनार्थी योगी जन जिसमे योग रमाते ।
जो उसका दर्शन पाते वे मुक्ति भुक्ति सब पाते ॥१३२॥
अंग अंग मे योग भरे है अणु अणु सुखकी छाया ।
नख नख मे पुरुपार्थ तेज है अन्त न जिसका आया ॥
तीर्थंकर अवतार रोम-कूपो मे भरे हुए है ।
घर्मबिन्दु से धर्म अनेकों जिनसे झरे हुए है ॥१३३॥

धर्म यहां है अर्थ यहां है काम यहा दिखलाता।
भोग यहा है, विविध योग हैं जिनका अन्त न आता।
भक्तियोग है सांख्ययोग है कर्मयोग पाता हूँ।
सकल यमो के विविध रूप से चकित हुआ जाता हूँ ॥१३४॥

प्रेम यहाँ है व्याप्त सकल रूपो में है उसकी जय।
सब विरोध है शान्त यहाँ पर सब में हुआ समन्वय।
सशय नष्ट हुए सब मेरे अब विराट-दर्शन से।
आज्ञा पालन मे तत्पर हू अब मै तन से मन से ॥१३५॥

इस विराट प्रभु के शुभ दर्शन तुमने मुझे कराये।
भूला था कर्तव्य पथ मै तुम सत्पथ पर लाये ॥
कितना है उपकार तुम्हारा कह कर क्या बतलाऊँ।
जीवन भर उपकार तुम्हारे गाऊँ पर न अघाऊँ ॥१३६॥

[हरीगीतिका]

माधव सुनाया आज तुमने जो अमर सन्देश है।
वह क्लेशहर है सत्यपथ है अब न सशय लेश है॥
उस पर चलूगा अब सदा पीछे न पाओगे मुझे।
कर्तव्य सब अपने करूंगा जो बताओगे मुझे ॥१३७॥

कवि—

पद्मावती

झुकगये पार्थ यो कहकर के मन मे गीता का ध्यान किया।
हँसते हँसते योगेश्वर ने अमरत्व दिया आशीष दिया ॥
बनगये पार्थ यो अमरतुल्य था कर्मयोग पीयूप पिया।
फिर निर्भय हो हुकार किया अपने कर मे गांडीव लिया ॥१३८॥

सब गर्ज उठे भीमादि वीर "आना हो जिनको आजायें ।
अब तो अत्याचारी अपने अत्याचारों का फल पायें ॥"
जयघोष हुआ चहुँओर वहाँ आगे पीछे दाएँ बाएँ ।
झनझना उठे सब अस्त्र शस्त्र हुंकार उठीं सब सेनाएँ ॥१३९॥

है जहाँ कृष्ण से योगनाथ अर्जुन से है बलवीर जहाँ ।
या जहाँ धनुर्धर पार्थ वीर है कृष्ण सरीखे धीर जहाँ ॥
है धर्म वहाँ सत्कर्म वहाँ सन्नीति वहाँ सत्प्रीति वहाँ ।
है न्याय वहाँ है विजय वहाँ योगी जीवन की रीति वहाँ ॥१४०॥

(९५८)

समाप्त